अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका – जुलाई २०२०

आन्तरिक परिपूर्णता

अग्निशिखा जुलाई २०२० वर्ष ५०, अंक १२, पूर्णांक ५९९

विषय-सूची

आन्तरिक परिपूर्णता

एक प्रार्थना	३
आन्तरिक परिपूर्णता	५
साधना के लिए आवश्यक गुण	१४
सच्चाई-निष्कपटता	१६
अभीप्सा	१८
समर्पण	२०
श्रद्धा	२४
लगन	२९
भक्ति	३२
सरल बने रहो	३५
योग का वास्तविक ध्येय	३८

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४०
एक शिष्या के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४४
कठिनाइयों में श्रीमाँ की सहायता	श्रीअरविन्द	४७
प्रेम के बदले प्रेम	'श्रीमातृवाणी' से	४८
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : ध्यान के प्रकार	नवजातजी	५०
तुलसी का घरुआ	स्व. रवीन्द्रजी	५२
नहीं जान पाया... (कविता)	श्री विश्वनाथ	५४
विशालता	वन्दना	५५

एक प्रार्थना

४ जून १९१४

हे सर्वविघ्नविजेता, तू हमारे अन्दर उन सब चीज़ों पर विजय-लाभ करेगा जो तेरे दिव्य विधान की उपलब्धि में बाधक हो सकती हैं। तू अज्ञान के अन्धकार और अहंकारमयी दुर्भावना के काले धुँए को दूर कर देगा; तू सभी ग़लत सुझावों को छिन्न-भिन्न कर देगा और हमारे अन्दर शुद्ध और स्पष्ट दृष्टि और कुशाग्रता को सुदृढ़ बनायेगा जो विनाशकारी विचारों और अराजकता के लिए संघर्षरत इच्छाओं के धोखे में नहीं आयेगी।

हे मेरे मधुर स्वामी, तेरा असीम प्रेम हमारी सत्ता की वास्तविकता है; उसकी सर्वशक्तिमान् क्रिया के विरुद्ध कौन संघर्ष कर सकता है? वह हर चीज़ में प्रवेश करती है, वह हर बाधा का अतिक्रमण करती है, चाहे वह भारी अज्ञान की जड़ता हो या नासमझ दुर्भावना का प्रतिरोध। हे मेरे मधुर स्वामी, इस प्रेम में से और इसके द्वारा तू सभी चीज़ों में प्रदीप्त होकर चमकता है और तेरी यह भव्यता जो अपनी शक्ति में सदा बढ़ती रहती है, अपनी क्रिया में समस्त पृथ्वी पर चमकेगी और प्रत्येक चेतना के लिए बोधगम्य होगी।

तेरी दिव्य शक्ति का प्रतिरोध कौन कर सकता है?

तू ही एकमात्र और परम 'सद्वस्तु' है।

मेरी सत्ता मूक पूजा-भाव में समाहित है और ऐसी सभी चीज़ें ग़ायब हो जाती हैं जो तू नहीं हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ९९

"लो, ये रहे फूल और आशीर्वाद! यह है दिव्य प्रेम की मुस्कान! इसमें कोई पसन्द और नापसन्द नहीं है। यह सभी की ओर उदार प्रवाह में उमड़ती है और कभी अपने अद्‌भुत उपहारों को वापस नहीं लेती!"

शाश्वत माँ परमानन्द की मुद्रा में बाँहें फैलाये हुए, जगत् पर निरन्तर अपने शुद्धतम प्रेम की ओस बरसा रही हैं!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. २०७

आन्तरिक परिपूर्णता

पाँच गुण

श्रीमाँ अपने हाथ में सफ़ेद चम्पा पुष्प लिये हुए हैं और उसे दिखा रही हैं। उस फूल का नाम उन्होंने "आन्तरिक परिपूर्णता" दिया है।

(उसकी पँखुड़ियों को गिनते हुए) एक, दो, तीन, चार, पाँच आन्तरिक परिपूर्णताएँ हैं। ये पाँच आन्तरिक परिपूर्णताएँ कौन-कौन-सी हैं?

क्योंकि इनको बदला जा सकता है। और वास्तव में, यदि मैं अपना गुप्त रहस्य तुम्हें बताऊँ, तो जब-जब मैं यह फूल किसी को देती हूँ, तो वे सदा वही आन्तरिक परिपूर्णताएँ नहीं होतीं। वह निर्भर करता है लोगों की आवश्यकताओं पर। यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति को मैं अलग-अलग समयों में अलग-अलग आन्तरिक परिपूर्णताएँ दे सकती हूँ; अतएव ये अटल नहीं हैं। परन्तु सर्वप्रथम जब इस पुष्प को "आन्तरिक परिपूर्णता" नाम दिया गया था... उस समय उन्हें लिख लिया गया था, पर मेरे लिए ये तरल पदार्थ की तरह हैं—मैं तुम्हें बता चुकी हूँ कि यह परिस्थितियों और आवश्यकताओं पर निर्भर करता है—मुझे याद नहीं कि प्रथम बार कौन-कौन-सी परिपूर्णताओं को चुना गया था।

तो, यदि कोई उन्हें जानता हो तो वह हमें बता सकता है, हम मिलान कर लेंगे।

मुझे पूरा विश्वास नहीं है।

तुम्हें पूरा विश्वास नहीं है। क्या कोई व्यक्ति है जिसे पूरा विश्वास हो?

अभीप्सा, भक्ति, सच्चाई और श्रद्धा।

ये तो अभी केवल चार ही हुए।

और समर्पण।

समर्पण? किसी ने मुझे कोई और चीज़ बतायी थी।

श्रद्धा, सच्चाई, अभीप्सा, भक्ति, समर्पण।

परन्तु यह तो ठीक वही है जो उसने अभी-अभी बताया है। *(एक दूसरे शिष्य की ओर मुड़ कर)* तुमने, ज़रा देर पहले तुमने मुझसे "एकनिष्ठता" कहा था।

> *मैंने वह कहा तो था, पर वह एकनिष्ठता नहीं है। एकनिष्ठता की जगह वहाँ श्रद्धा है।*

परन्तु उसमें एकनिष्ठता क्यों नहीं रहनी चाहिये? मैंने उसे नहीं रखा क्योंकि मैंने कोई चीज़ स्मरण करने की चेष्टा नहीं की, मैंने केवल वही चीज़ें लिखीं जो मुझे अत्यन्त आवश्यक और अत्यन्त सार्वजनिक प्रतीत हुईं। परन्तु ये कई ढंग से रखी जा सकती हैं।

सच्चाई या पारदर्शिता

जो हो, जो चीज़ उसमें सर्वदा रहती है, जो सभी समवायों में होती है और चाहे जिस किसी को मैं यह फूल दूँ, उनमें सर्वप्रथम है सच्चाई। कारण, यदि सच्चाई न हो तो मनुष्य आधा पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव यह है पहली चीज़ और यह सदा उनमें रहती है।

परन्तु इसे एक दूसरे शब्द के द्वारा अनूदित करना सम्भव है, यदि कोई पसन्द करे, और वह होगा "पारदर्शिता"। मैं इस शब्द की व्याख्या कर दूँ:

कोई व्यक्ति मेरे सामने उपस्थित है और मैं उसकी ओर देखती हूँ; मैं उसकी आँखों में देखती हूँ। और यह व्यक्ति यदि सच्चा अथवा "पारदर्शक" होता है तो उसकी आँखों के द्वारा मैं उसके अन्दर पैठ जाती हूँ और उसकी अन्तरात्मा को देखती हूँ—स्पष्ट रूप में। परन्तु—ठीक यही अनुभव होता है—जब मैं किसी व्यक्ति की ओर निहारती हूँ और कभी-कभी थोड़ा-सा मेघ देखती हूँ, तब मैं आगे बढ़ती हूँ, मैं एक परदा देखती हूँ, और फिर, कभी-कभी वहाँ एक दीवार होती है और उसके बाद वहाँ कोई बिलकुल काली चीज़ होती है; और इन सबको पार करना होता है और छिद्र बनाने होते हैं जिनमें से होकर और आगे बढ़ा जाये; और उसके बाद भी मैं निस्सन्दिग्ध नहीं होती कि अन्तिम क्षण में मेरे सम्मुख कोई काँसे का दरवाज़ा नहीं उपस्थित हो जायेगा जो इतना मोटा होगा कि मैं उसके पार कभी नहीं जा सकूँगी और न उसकी अन्तरात्मा को देख सकूँगी; तब, ऐसे व्यक्ति के

विषय में मैं तुरत कह सकती हूँ कि वह सच्चा नहीं है। परन्तु मैं शब्दशः यह भी कह सकती हूँ कि वह पारदर्शक नहीं है। यह है पहली चीज़।

श्रद्धा या विश्वास

दूसरी चीज़ है जो स्पष्ट ही उतनी ही अनिवार्य है, यदि कोई प्रगति करना चाहे; वह है श्रद्धा का होना। अथवा दूसरा शब्द लें, जो प्रतीत तो होता है अधिक सीमित, पर मेरे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि (यह अनुभव का प्रश्न है) यदि तुम्हारी श्रद्धा भगवान् के प्रति पूर्ण विश्वास से निर्मित नहीं है तो आसानी से तुम्हें यह धारणा हो सकती है कि तुम्हारे अन्दर श्रद्धा है लेकिन फिर भी तुम भगवती 'शक्ति' या 'भगवत्कृपा' पर अपना पूरा विश्वास खो देने, अथवा भगवान् का जो 'विश्वास' तुम पर है उसे खो देने के पथ पर हो सकते हो। ये रास्ते की तीन बाधाएँ हैं :

जिन लोगों में भगवान् पर श्रद्धा होती है—जिसे वे अटूट श्रद्धा कहते हैं—और जो यह कहते हैं : "स्वयं भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं; जो कुछ मुझमें, दूसरों में, सर्वत्र हो रहा है वह सब भगवान् का ही कार्य है और भगवान् के सिवा अन्य किसी का नहीं", वे यदि इस प्रकार के तर्क के साथ इसका अनुसरण करते हैं तो कुछ समय बाद वे भगवान् पर अत्यन्त दहलाने वाले कुकर्मों का दोषारोपण करते हैं जो जगत् में होते हैं और 'उन्हें' सचमुच का क्रूर और भयावह दानव बना देते हैं—यदि उनमें विश्वास नहीं होता।

या फिर, उनमें श्रद्धा तो होती है, पर वे अपने-आपसे कहते हैं : "सचमुच मुझे भगवान् पर श्रद्धा तो है, पर यह जगत्, मैं भली-भाँति देख सकता हूँ कि यह कैसा है! सबसे पहले तो मैं इतना अधिक दुःख भोग रहा हूँ, ठीक है न? मैं बहुत दुःखी हूँ, अपने सभी पड़ोसियों से कहीं अधिक दुःखी हूँ"—कारण, मनुष्य सर्वदा अपने सभी पड़ोसियों से कहीं अधिक दुःखी होता है—"मैं बहुत दुःखी हूँ, और सचमुच, जीवन मेरे प्रति कठोर है। परन्तु फिर भगवान् तो भगवान् हैं; वे 'सर्व-कृपालु', 'सर्व-उदार', 'सर्व-सामञ्जस्यमय' हैं, तो यह कैसी बात है कि मैं इतना दीन-दुःखी हूँ? वे अवश्य ही शक्तिहीन होंगे; अन्यथा इतने कृपालु होने पर वे मुझे इतना अधिक दुःख-कष्ट कैसे भोगने देते?"

यही है दूसरी बाधा।

और तीसरी है : कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनमें, हम कह सकते हैं, एक प्रकार की विकुञ्चित और अतिरञ्जित विनयशीलता या विनम्रता होती है और जो अपने-आपसे कहते हैं : "निश्चय ही भगवान् ने मुझे बाहर फेंक दिया है, मैं किसी काम के लायक नहीं हूँ, वे मेरे साथ कुछ नहीं कर सकते, मेरे लिए बस एकमात्र कार्य है इस खेल को ही बन्द कर देना, क्योंकि वे मुझे अपने योग्य नहीं समझते!"

अतएव, जब तक मनुष्य अपनी श्रद्धा के साथ भगवत्कृपा में समग्र और पूर्ण विश्वास को नहीं जोड़ देता, तब तक कठिनाइयाँ अवश्य रहेंगी। इस कारण दोनों ही चीजें आवश्यक हैं।...

भक्ति या कृतज्ञता

अब, हमने इस तालिका में "भक्ति" को रखा है। हाँ, भक्ति बहुत ठीक है, पर जब तक इसके साथ अन्य कई वस्तुएँ नहीं होतीं, यह भी कई भूलें कर सकती है। इसके सामने भी महान् कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं।

एक व्यक्ति में भक्ति है और वह अपना अहं बनाये रखता है। और तब उसका अहं भक्ति के वश उससे सभी प्रकार के कार्य कराता है, ऐसी चीज़ें कराता है जो भयंकर रूप से अहंकारपूर्ण हैं। कहने का तात्पर्य, वह एकमात्र अपने विषय में ही सोचता है, न तो दूसरों के विषय में, न जगत् के विषय में, न कर्म के विषय में, न इस विषय में सोचता है कि क्या किया जाना चाहिये—वह बस अपनी भक्ति की बात सोचता है। और वह बड़ा भारी अहंकारी बन जाता है। और इसलिए, जब उसे पता लगता है कि भगवान्, किसी कारणवश, उसकी भक्ति का उतने ही उत्साहपूर्वक उत्तर नहीं देते जितने उत्साह की वह उनसे आशा करता था तो वह निराश हो जाता है और उन्हीं तीन कठिनाइयों में फिर जा गिरता है जिनकी मैं अभी चर्चा कर रही थी : या तो भगवान् निर्दय हैं—हमने इसे पढ़ा है, ऐसी अनेक कहानियाँ हैं, उन उत्साहपूर्ण भक्तों की जो भगवान् को गालियाँ देते हैं क्योंकि वे अब उतने उदार और उनके समीप नहीं होते जितने पहले थे, वे पीछे हट गये हैं, "क्यों तूने मुझे त्याग दिया है? क्यों छोड़ दिया है, ऐ राक्षस!..." वे ऐसा कहने का साहस नहीं करते, पर ऐसा सोचते हैं,

या फिर वे कहते हैं : "ओह! मैंने अवश्य ही कोई इतनी भारी भूल कर दी होगी जिसके कारण मुझे दूर फेंक दिया गया है", और वे निराशा के गर्त में जा गिरते हैं।

परन्तु एक दूसरी क्रिया है जो भक्ति के साथ निरन्तर बनी रहनी चाहिये...। इस प्रकार की कृतज्ञता का भाव कि भगवान् का अस्तित्व है; चमत्कारपूर्ण कृतज्ञता की यह भावना जो वास्तव में इस तथ्य के कारण ही तुम्हें महान् हर्ष से भर देती है कि भगवान् हैं, विश्व में कोई वस्तु है जो भगवान् है, ठीक वह भयंकरता ही नहीं है जिसे हम देखते हैं, भगवान् हैं, भगवान् विद्यमान हैं। और जब-जब अत्यन्त मामूली चीज़ भी तुम्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, दिव्य सत्ता के इस उच्च 'सत्य' के सम्पर्क में ला देती है, तुम्हारा हृदय इतने तीव्र, इतने अलौकिक हर्ष से, एक ऐसी कृतज्ञता से भर जाता है जिसमें मानों अन्य सब चीज़ों की अपेक्षा सबसे अधिक आनन्दपूर्ण रस होता है।

ऐसी कोई चीज़ नहीं जो तुम्हें कृतज्ञता से प्राप्त हर्ष के समान हर्ष प्रदान करे। हम एक पक्षी को गाते हुए सुनते हैं, एक सुन्दर-सा पुष्प देखते हैं, एक नन्हें से बच्चे को निहारते हैं, उदारता के एक कार्य की ओर दृष्टिपात करते हैं, एक आकर्षक वाक्य पढ़ते हैं, अस्तोन्मुख रवि को देखते हैं, इसका महत्त्व नहीं कि वह क्या चीज़ है, एकाएक यह चीज तुम्हें अभिभूत कर देती है, इस प्रकार का भावातिरेक—निस्सन्देह, इतना गभीर, इतना तीव्र—कि संसार भगवान् को अभिव्यक्त कर रहा है, कि जगत् के पीछे कोई वस्तु है जो भगवान् है।

अतएव मैं समझती हूँ कि कृतज्ञता के बिना भक्ति एकदम अपूर्ण होती है, भक्ति के साथ-साथ कृतज्ञता अवश्य होनी चाहिये।

अभीप्सा या साहस

मुझे याद है कि एक बार हमने एक परिपूर्णता के रूप में साहस की चर्चा की थी; मुझे याद है कि इसे एक तालिका के अन्दर लिखा भी गया था। परन्तु वह एक ऐसा साहस है जिसमें एक सर्वोच्च साहसिक कार्य का रस होता है। और सर्वोच्च साहसिकता का यह रस है अभीप्सा—वह अभीप्सा जो तुम्हें पूर्णतः अपने अधिकार में कर लेती है और बिना कोई

हिसाब लगाये, बिना कुछ बचाये और पीछे हट आने की किसी सम्भावना के बिना, तुम्हें भागवत खोज के महान् 'साहसिक कार्य' में, दिव्य मिलन के महान् 'साहसिक कर्म' में, और 'भागवत उपलब्धि' के और भी महत्तर साहसिक कार्य में फेंक देती है; मनुष्य बिना पीछे ताके और एक क्षण भी यह पूछे बिना कि "क्या होने वाला है" अपने-आपको इस 'साहसिक कार्य' में, झोंक देता है। क्योंकि यदि कोई पूछता है कि क्या होने वाला है तो वह कभी प्रारम्भ ही नहीं करता, वह सदा धरती से चिपका रहता है, वहाँ, गड़ा रहता है, किसी वस्तु को खो देने, अपना सन्तुलन खो देने के भय से त्रस्त बना रहता है।

यही कारण है कि मैं साहस की बात कहती हूँ—परन्तु वास्तव में यह अभीप्सा की बात है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। सच्ची अभीप्सा ऐसी चीज़ है जो साहस से भरी रहती है।

समर्पण

और अब आता है समर्पण, अंग्रेज़ी में शब्द है "सरेण्डर" (surrender), फ्रेंच भाषा में कोई शब्द नहीं जो ठीक-ठीक वही अर्थ प्रदान करता हो। परन्तु श्रीअरविन्द ने कहा है—मुझे लगता है कि हमने इसे पढ़ा है—कि योग करने के लिए समर्पण सबसे पहली और चरम शर्त है। अतएव उन्होंने जो कुछ कहा है उसका यदि हम अनुसरण करें तो यह ठीक कोई एक आवश्यक गुण नहीं है : यह तो योग आरम्भ करने की सबसे पहली अनिवार्य स्थिति है। यदि किसी ने सम्पूर्ण रूप से समर्पण करने का निश्चय नहीं किया है तो प्रारम्भ नहीं कर सकता।

सहिष्णुता या अध्यवसाय

परन्तु इस समर्पण को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए ये सभी गुण आवश्यक हैं। और मैं एक और जोड़ रही हूँ—क्योंकि अभी तक हमने उनमें से केवल चार की ही चर्चा की है—मैं सहिष्णुता को जोड़ रही हूँ। कारण, यदि तुम हतोत्साह हुए बिना और प्रयास छोड़े बिना, क्योंकि वह अत्यन्त कठिन है, कठिनाइयों का सामना करने में समर्थ नहीं हो; और यदि तुम असमर्थ... हाँ, आघातों को ग्रहण करने और फिर भी प्रयास जारी रखने में, आघातों

को, जैसा कि कहा जाता है, "पी जाने" में—अपने दोषों के फलस्वरूप जब आघात पाते हो, उन्हें पी जाने और निरुत्साह हुए बिना आगे बढ़ना जारी रखने में—असमर्थ होते हो, तो तुम बहुत दूर तक आगे नहीं जाते; प्रथम मोड़ पर ही, जहाँ तुम्हारा तुच्छ अभ्यस्त जीवन आँख से ओझल हो जाता है, तुम निराशा में जा गिरते हो और प्रयास छोड़ बैठते हो।

इसका रूप... इसे कैसे कहा जाये? इसका अत्यन्त स्थूल रूप है अध्यवसाय। जब तक तुम एक ही चीज़ को, जब ज़रूरत हो, हज़ारों बार फिर-फिर आरम्भ करने का संकल्प न करो...। जानते हो, लोग निराश होकर मेरे पास आते हैं और कहते हैं: "मैंने तो समझा था कि यह हो चुका, पर मुझे फिर से आरम्भ करना होगा!" और यदि उनसे कहा जाता है: "परन्तु यह तो कुछ नहीं, तुम्हें शायद फिर से सौ बार, दो सौ बार, हज़ार बार प्रारम्भ करना होगा; तुम एक पग आगे बढ़ते हो और समझते हो कि सुरक्षित हो गये, परन्तु सर्वदा कोई चीज़ बनी रहेगी जो उसी कठिनाई को थोड़े दिन बाद वापस ले आयेगी। तुम समझते हो कि तुमने समस्या हल कर ली, तुम्हें उसे फिर एक बार हल करना होगा; वह तुम्हारे सामने ऐसे उपस्थित होगी जो देखने में तो ज़रा भिन्न होगी, पर होगी वही समस्या", और यदि तुमने निश्चय नहीं किया है कि: "यदि वह लाखों बार वापस आये फिर भी मैं उसे लाखों बार हल करूँगा, पर इसे समाप्त करके ही छोड़ूँगा", तो हाँ, तुम योग नहीं कर सकोगे। यह एकदम अपरिहार्य है।

लोगों को बहुत सुन्दर अनुभव होता है और वे कहते हैं, "आह! अब मुझे यह मिल गया!"... और तब वह बैठ जाता है, कम हो जाता है, आवृत हो जाता है और अकस्मात् कोई अप्रत्याशित, एकदम सामान्य और देखने में बिलकुल अरुचिकर वस्तु तुम्हारे सामने आ उपस्थित होती है और तुम्हारा रास्ता बन्द कर देती है। और तब तुम कहते हो: "आह! प्रगति करने से भला क्या लाभ यदि यह चीज़ पूरी-की-पूरी फिर से प्रारम्भ करनी है? मैं इसे क्यों करूँ? मैंने एक प्रयास किया, सफलता पायी, एक विशेष बिन्दु पर पहुँच गया, और अब ऐसा लग रहा है मानों मैंने कुछ नहीं किया था! यह सब सचमुच बेकार बात है।" क्योंकि तुममें सहिष्णुता नहीं है।

यदि किसी में सहिष्णुता है तो वह कहता है: "यह ठीक है। बहुत अच्छा, जितनी बार आवश्यक होगा उतनी बार मैं इसे फिर से आरम्भ

करूँगा; हज़ार बार, दस हज़ार बार, लाख बार यदि ज़रूरी हो तो, मैं इसे फिर से आरम्भ करूँगा—परन्तु मैं अन्त तक जाऊँगा और किसी चीज़ में वह शक्ति नहीं होगी जो मुझे रास्ते में रोक दे।"

यह बहुत ज़रूरी चीज़ है। बहुत ज़रूरी।

अतएव, यहाँ मेरा प्रस्ताव है : हम समर्पण को रखते हैं सबसे पहले, सबसे ऊपर, अर्थात्, हम श्रीअरविन्द की कही हुई बात स्वीकार करते हैं कि, पूर्णयोग की साधना करने के लिए व्यक्ति को सबसे पहले भगवान् के प्रति पूर्ण रूप से समर्पण करने का संकल्प करना चाहिये, दूसरा कोई पथ नहीं है, यही है 'एकमात्र पथ'। परन्तु उसके बाद मनुष्य के अन्दर ये पाँच आन्तरिक गुण, पाँच आन्तरिक परिपूर्णताएँ अवश्य होनी चाहियें और हम कहते हैं कि ये परिपूर्णताएँ हैं :

सच्चाई या पारदर्शिता

श्रद्धा या विश्वास (स्वाभाविक रूप में, भगवान् पर विश्वास)

भक्ति या कृतज्ञता

साहस या अभीप्सा

सहिष्णुता या अध्यवसाय

सहिष्णुता का एक रूप है 'एकनिष्ठता'। अपने संकल्प के प्रति वफ़ादारी, विश्वासपात्र बनना। तुमने एक संकल्प किया है, तुम अपने संकल्प के प्रति वफ़ादार बने रहते हो। यही है सहिष्णुता।

बस, इतना ही। यदि तुम डटे रहते हो तो फिर एक क्षण ऐसा आता है जब तुम विजयी होते हो।

विजय उसी की होती है जो सतत प्रयत्नशील होता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४४-५२

श्रद्धा, सच्चाई, अभीप्सा, भक्ति इत्यादि जैसे गुण पूर्णता का निर्माण करते हैं जिसे फूलों की हमारी भाषा में सूचित किया गया है। साधारण भाषा में इसका अर्थ कुछ और होगा जैसे, पवित्रता, प्रेम, दया, विश्वस्तता और अन्य गुणों का एक समूह।

श्रीअरविन्द

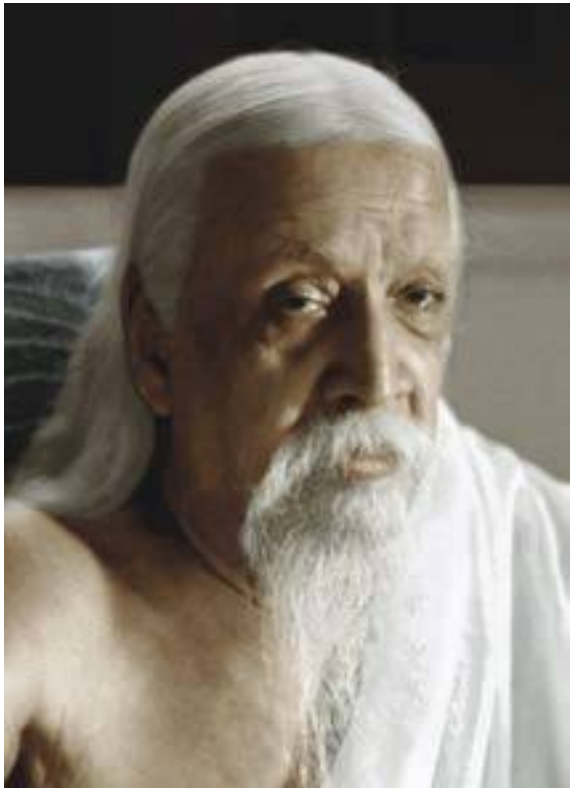

भगवान् द्वारा सब कुछ किया जा सकता है—हृदय और स्वभाव शुद्ध किये जा सकते हैं, आन्तरिक चेतना जाग्रत् की जा सकती तथा परदे दूर किये जा सकते हैं—यदि कोई भरोसे और विश्वास के साथ अपने को भगवान् के हाथों में अर्पण कर दे और यदि कोई तुरन्त पूर्ण रूप से ऐसा न कर सके फिर भी, जितना अधिक वह ऐसा कर सकेगा उतना ही अधिक आन्तरिक साहाय्य और पथ-प्रदर्शन उसे प्राप्त होगा तथा उसके अन्दर भगवान् का अनुभव बढ़ेगा। यदि सन्देहशील मन कम सक्रिय हो जाये और विनम्रता तथा समर्पण का संकल्प बढ़े तो ऐसा करना पूर्णतः सम्भव हो सकता है। तब एकमात्र इस वस्तु के सिवा किसी दूसरी शक्ति और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६९ **श्रीअरविन्द**

साधना के लिए आवश्यक गुण

अनिवार्य गुण

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन गुणों की चर्चा तुम करते हो वे आध्यात्मिक पथ की ओर जाने में सहायक होते हैं, जब कि जिन दोषों को तुम गिनाते हो उनमें से प्रत्येक इस पथ का एक बहुत बड़ा रोड़ा है। आध्यात्मिक प्रयास के लिए सच्चाई का होना विशेष रूप से अत्यन्त आवश्यक है और कुटिलता एक स्थायी बाधा है। सात्त्विक प्रकृति को आध्यात्मिक जीवन के लिए हमेशा से ही अत्यन्त उपयुक्त और अनुकूल माना जाता रहा है, जब कि राजसिक प्रकृति अपनी कामनाओं और आवेगों के भार के नीचे दबी रहती है। और, आध्यात्मिकता एक ऐसी चीज़ है जो द्वन्द्वों से परे होती है, और इसके लिए सबसे अधिक आवश्यकता होती है एक सच्ची ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा की। यह अभीप्सा राजसिक मनुष्य में भी उठ सकती है और सात्त्विक मनुष्य में भी। यदि यह उठती है तो उसके द्वारा राजसिक मनुष्य ठीक उसी तरह अपनी दुर्बलताओं और कामनाओं और आवेगों से ऊपर उठ कर भागवत पवित्रता और ज्योति और प्रेम तक पहुँच सकता है जैसे कि दूसरा अपने पुण्यों से ऊपर उठ कर वहाँ पहुँच सकता है। अवश्य ही, यह केवल तभी हो सकता है जब वह अपनी निम्न प्रकृति को जीत ले और अपने अन्दर से उसे निकाल फेंके; क्योंकि, वह यदि फिर से उसमें गिर जाये तो यह सम्भव है कि वह पथ से पतित हो जाये अथवा कम-से-कम, जब तक वह गिरावट की स्थिति बनी रहे तब तक, उसके कारण अपनी आन्तरिक प्रगति करने से रुका रहे। पर फिर भी, धार्मिक और आध्यात्मिक इतिहास में प्रायः ही बड़े-बड़े पापियों का महान् सन्तों में, कम गुणशाली या गुणहीन मनुष्यों का आध्यात्मिक जिज्ञासुओं और ईश्वर-प्रेमियों में परिवर्तन होता रहा है—जैसे, यूरोप में सन्त ऑगस्टीन, भारत में चैतन्य के जगाई और मधाई, बिल्वमंगल तथा अनेक दूसरे लोग। भगवान् का गृह किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए बन्द नहीं रहता जो सच्चाई के साथ उनके दरवाज़ों को खटखटाता है, चाहे पहले उसमें जितनी भी भूल-भ्रान्तियाँ और दोष-त्रुटियाँ क्यों न रही हों। मानवीय गुण और मानवीय दोष हमारे अन्दर विद्यमान दिव्य तत्त्व के सफ़ेद और काले

आवरण हैं जिन्हें यदि एक बार वह तत्त्व भेद दे तो इन दोनों के अन्दर से वह आत्मा मनुष्य की ऊँचाइयों की ओर प्रज्वलित हो सकता है।

भगवान् के सम्मुख विनम्रता भी आध्यात्मिक जीवन का एक अपरिहार्य गुण है, और आध्यात्मिक घमण्ड, दम्भ या मिथ्याभिमान और अपने-आप पर ही भरोसा सर्वदा नीचे की ओर धकेलते हैं। परन्तु भगवान् पर विश्वास और अपनी आध्यात्मिक भवितव्यता पर विश्वास (अर्थात् यह भाव कि चूँकि मेरा हृदय और अन्तरात्मा भगवान् को खोजते हैं, मैं उन्हें प्राप्त करने में असफल नहीं हो सकता)—ये मार्ग की कठिनाइयों को देखते हुए बहुत आवश्यक हैं। दूसरों के प्रति घृणा-भाव रखना अनुचित है, विशेषकर इस कारण कि भगवान् सबके अन्दर विराजमान हैं। स्पष्ट ही, मनुष्यों की क्रियाएँ और अभीप्साएँ तुच्छ और मूल्यहीन नहीं हैं, क्योंकि समस्त जीवन ही अन्तरात्मा का अन्धकार से निकल कर ज्योति की ओर अग्रसर होना है। परन्तु हमारा मनोभाव यह है कि मनुष्यजाति मन के द्वारा अपनाये हुए सामान्य उपायों से, राजनीति, सामाजिक सुधार, लोकोपकार आदि के द्वारा अपनी सीमाओं से बाहर नहीं जा सकती—ये चीज़ें केवल सामयिक या स्थानिक औषधियाँ हो सकती हैं। निस्तार पाने का एकमात्र सच्चा उपाय है चेतना का परिवर्तन, एक महत्तर, विशालतर और विशुद्धतर पद्धति में परिवर्तन और उसी परिवर्तन पर आधारित जीवन और कर्म। इसीलिए जब एक बार आध्यात्मिक जागृति पूर्ण हो जाये तो उसी चीज़ की ओर समस्त शक्तियों को मोड़ देना चाहिये। इसका अर्थ अवहेलना करना नहीं, बल्कि जो उपाय निष्फल ज्ञात हुए हैं उनके बदले मात्र फलदायी साधनों को पसन्द करना है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ४२-४३ **श्रीअरविन्द**

अतिमानसिक-भावापन्न मनोवैज्ञानिक पूर्णता

ऐसी मनोवैज्ञानिक पूर्णता जो दिव्य होने की अभीप्सा करती है।

हिन्दी—चम्पा

सच्चाई-निष्कपटता

निष्कपटता का अर्थ

एकमात्र अनिवार्य शर्त है—निष्कपटता।

सच्चाई का अर्थ है, पूरी तरह से केवल 'भगवान्' की ओर मुड़े रहना और केवल 'भागवत' प्रेरणाओं को स्वीकारना—इसका यह अर्थ भी है कि व्यक्ति के अन्दर ऐसा बनने की सच्ची और सतत इच्छा तथा प्रयास हो।

निष्कपट एक विशेषण है जिसका अर्थ यह है कि सच्ची इच्छा होनी चाहिये। अगर तुम केवल यही सोचो, "मैं अभीप्सा करता हूँ" और अपनी अभीप्सा से एकदम असंगत काम करते रहो या अपनी कामनाओं के पीछे भागते रहो अथवा अपने-आपको विरोधी प्रभावों के प्रति खोल दो, तो वह निष्कपट और सच्ची इच्छा नहीं होती।

निष्कपटता का अर्थ मात्र सच बोलने से कहीं अधिक है। इसका अर्थ है कि तुम्हारा पूरा-पूरा मतलब वही है जो तुम कह रहे हो, जो तुम बोलते हो उसे सचमुच अनुभव करते हो और अपनी इच्छा में तुम सीधे-सच्चे हो। जब साधक भगवान् का यन्त्र बनने और भगवान् के साथ तादात्म्य प्राप्त करने की अभीप्सा में निरन्तर रत रहता है तब उसके अन्दर निष्कपटता का अर्थ होता है कि वह अपनी अभीप्सा में सचमुच बहुत सच्चा और गम्भीर है और भगवान् की इच्छा के सिवाय अन्य सभी इच्छाओं और आवेगों को एकदम अस्वीकार कर देता है।

निष्कपटता है : सत्ता के किसी भी अंग को भगवान् के प्रति उच्चतम अभीप्सा का कभी विरोध न करने देना।

सभी सच्ची अभीप्साओं का अपना असर होता है; अगर तुम सच्चे और निष्कपट हो तो तुम भागवत जीवन में विकसित होते रहोगे।

पूरी तरह से सच्चा-निष्कपट होने का अर्थ है केवल भागवत 'सत्य' को चाहना, अपने-आपको अधिकाधिक भगवती माँ के प्रति समर्पित करना, सभी वैयक्तिक माँगों और कामनाओं को अस्वीकार करके बस इसी एक अभीप्सा में संलग्न रहना, जीवन की प्रत्येक क्रिया को 'प्रभु' के अर्पण कर देना और अहंकार को बीच में लाये बिना इसे कर्तव्य-कर्म के रूप में करना। दिव्य जीवन का यही आधार है।

तुम एकाएक ऐसे नहीं बन सकते, लेकिन अगर तुम सारे समय इसी की अभीप्सा करो और सच्चे हृदय और सीधी-सच्ची इच्छा के साथ अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया को प्रभु के द्वारा दिये गये कर्म के रूप में सम्पन्न करो तो तुम अधिकाधिक इस चेतना में विकसित होते रहोगे।

मनुष्य सर्वदा मिश्रित होता है और उसकी प्रकृति में गुण और दोष एक साथ इस प्रकार मिले-जुले होते हैं कि उन्हें अलग करना प्रायः असम्भव होता है। मनुष्य जो कुछ होना चाहता है अथवा दूसरे उसमें जो कुछ देखना चाहते हैं अथवा कभी-कभी वह अपनी प्रकृति के एक भाग में जो कुछ होता है या किसी विशेष सम्पर्क में जो कुछ होता है उससे वह वास्तविक रूप में या अन्य सम्पर्कों में अथवा अपनी प्रकृति के दूसरे भाग में बहुत भिन्न हो सकता है। पूर्ण रूप से सच्चा, सीधा रह कर उद्घाटित होना मानव-प्रकृति के लिए कोई आसान उपलब्धि नहीं है। सच पूछा जाये तो केवल आध्यात्मिक प्रयास के द्वारा ही कोई इसे उपलब्ध कर सकता है—और वैसा प्रयास करने के लिए आवश्यकता होती है कठोर अन्तर्निरीक्षणात्मक आत्मदर्शन की शक्ति की, निर्दय होकर अपने अन्दर खोजने और छान-बीन करने की शक्ति की, जिसे पाने में बहुत से साधक और योगी भी समर्थ नहीं होते। वास्तव में एकमात्र आलोकदायिनी भागवती कृपा-शक्ति ही साधक के सम्मुख उसका स्वरूप उद्घाटित करती और उसमें जो कुछ दोषपूर्ण है उसे रूपान्तरित करती है और तभी मनुष्य में वैसा करने की शक्ति आती है। और उस समय भी ऐसा केवल तभी सम्भव होता है जब साधक स्वयं अपनी अनुमति देता और भागवत क्रिया के लिए सम्पूर्ण रूप से अपने-आपको दे देता है।

*

ऋजुता का अर्थ है, अपने प्रति और भगवान् के प्रति बस पूरा-पूरा सच्चा होना, अपने तरीक़ों में ज़रा भी टेढ़ा न होना। अपने-आपकी सफ़ाई देने का मतलब हमेशा यही होता है कि व्यक्ति अपनी भूल स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक है और श्रीमाँ के द्वारा उँगली उठाये जाने पर भी वह अपने-आपको सही साबित करने की कोशिश में लगा रहता है।
CWSA खण्ड २९, पृ. ५०-५१, ५४

अभीप्सा

अभीप्सा का मूल्य

हृदय से निकली एक सरल, सीधी और सच्ची पुकार तथा अभीप्सा एक बहुत महत्त्वपूर्ण चीज़ है और व्यक्ति की क्षमताओं से कहीं अधिक आवश्यक और प्रभावी भी होती है।

*

तुम्हें बस सच्चे हृदय से अभीप्सा करनी चाहिये और जितना सम्भव हो, स्वयं को 'श्रीमाँ की शक्ति' के प्रति यथासम्भव खुला रखना चाहिये। तब चाहे जो भी कठिनाइयाँ आयें, उन पर विजय पा ली जायेगी—हो सकता है कि इसमें समय लगे, लेकिन परिणाम सुनिश्चित है।

*

तुम्हें यह मानना चाहिये कि शक्ति *(श्रीमाँ की)* तुम्हारे चारों ओर है और तुम्हें उसे पुकारना चाहिये—अगर तुम उसका अनुभव कर सको तो सोने में सुहागा, लेकिन न भी कर सको फिर भी अगर तुम्हारे अन्दर श्रद्धा और गुहार करने की अभीप्सा और शक्ति हों तो वह तुम्हारे अन्दर प्रवेश करके प्रवाहित हो सकती है।

*

तुम्हें भगवान् के ऊपर निर्भर रहने के साथ-साथ साधना करने में भी समर्थ होना चाहिये—भगवान् साधना के माप के अनुसार नहीं बल्कि अन्तरात्मा और उसकी अभीप्सा के अनुसार फल देते हैं। साथ ही, चिन्ता करने या परेशान होने से कोई फ़ायदा नहीं होता—"मैं यह बनूँगा, मैं वह बनूँगा, आख़िर, मैं क्या बनूँगा?" बल्कि यह कहो, "मैं तैयार हूँ वह बनने के लिए जो भगवान् चाहते हैं कि मैं बनूँ, वह नहीं जो मैं बनना चाहता हूँ।"—बाक़ी सब चीज़ों को इसी आधार पर चलना चाहिये।

*

अपने और भगवान् के बीच **किसी भी** विचार, किसी भी घटना को भला क्यों आने दिया जाये? तब कोई भी दूसरी चीज़ मायने नहीं रखती, भगवान् तथा तुम्हारी अभीप्सा के सिवाय और किसी भी चीज़ का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अगर तुम भगवान् को तेज़ी से, निरपेक्ष रूप से, समग्र रूप से

पाना चाहो तो तुम्हारा सारा जीवन पूरी तरह से उसी में रमा रहना चाहिये, एकमन हो उसी में जुटे रहो और कोई भी चीज़ उसके बीच में न आने पाये।

भगवान् के बारे में मानसिक विचारों का भला क्या मूल्य है? इन सब विचारों का कि उन्हें कैसा होना चाहिये, उन्हें कैसे क्रिया करनी चाहिये, कैसे नहीं करनी चाहिये—ये सारी चीज़ें रास्ते की बाधा बन कर आती हैं। तुम्हारे लिए केवल भगवान् का महत्त्व है। जब तुम्हारी चेतना भगवान् का आलिंगन कर लेती है, तब तुम जान सकते हो कि भगवान् क्या हैं, उसके पहले नहीं। कृष्ण कृष्ण हैं, उन्होंने क्या किया या क्या नहीं किया, इससे हमारा कोई सरोकार नहीं; हमारे लिए जो चीज़ महत्त्व रखती है वह है—बस 'उनके' दर्शन करना, 'उनसे' मिलना, उनके 'प्रकाश', 'उपस्थिति', 'प्रेम' तथा 'आनन्द' का अनुभव करना। केवल आध्यात्मिक अभीप्सा का ही महत्त्व है—यही है आध्यात्मिक जीवन का विधान।

मन के इन विचारों या प्राण की किसी भी पहल में रम कर अपना समय बरबाद मत करो—इन बादलों को उड़ा दो। एकमात्र अनिवार्य वस्तु पर अपना तन-मन केन्द्रित रखो।

CWSA खण्ड २९, पृ. ५५-५६

अभीप्सा करना और खींचना

सामान्यतः खींचने में अपने लिए चीज़ें पाने की कामना होती है—अभीप्सा में उच्चतर चेतना के प्रति आत्म-दान होता है कि वह उतर कर अधिकार कर ले—पुकार जितनी तीव्र होगी, आत्म-दान उतना ही महान् होगा।

*

प्रकाश को ज़बरदस्ती, खींच कर नीचे उतारना निश्चय ही बड़ी भूल है। अतिमानस को एक झटके में नहीं उतारा जा सकता। जब समय आयेगा तो वह स्वयं उद्घाटित हो जायेगा—लेकिन उसके पहले बहुत कुछ करना होगा, और वह सब धीरज के साथ और बिना जल्दबाज़ी के करना होगा।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६१ **श्रीअरविन्द**

समर्पण

समर्पण का अर्थ

भगवान् उन्हीं को अपने-आपको दे देते हैं जो अपने सभी पहलुओं के साथ, बिना कुछ बचाये, स्वयं को उन्हें समर्पित कर देते हैं। उन्हें अपनी झोली में मिलता है यह सब कुछ—अचञ्चलता, प्रकाश, शक्ति, परमानन्द, स्वतन्त्रता, विस्तार, ज्ञान की ऊँचाइयाँ और आनन्द के सागर।

*

समर्पण का अर्थ है, स्वयं को प्रभु के चरणों में सौंप देना—तुम्हारे पास जो है, तुम जो हो, वह सब प्रभु को न्योछावर कर देना, कोई भी चीज़ अपनी न समझना, प्रभु की इच्छा के सिवाय दूसरी किसी भी इच्छा का पालन न करना, प्रभु के लिए जीना—अपने अहंकार के लिए नहीं।

*

आत्म-समर्पण का अर्थ ही है, स्वयं अपना और जो कुछ तुम्हारा है, उस सबका भगवान् के प्रति उत्सर्ग कर देना—इसमें मन तथा सभी कुछ आ जाता है—ताकि भागवत शक्ति सब कुछ अपने हाथ में लेकर परिवर्तित कर सके।

*

समर्पण का अर्थ है, अपने अन्दर की प्रत्येक वस्तु को—व्यक्ति जो है, उसके पास जो कुछ है—उस सबको प्रभु के हवाले कर देना, अपने विचारों, कामनाओं, आदतों इत्यादि पर ज़ोर न देना बल्कि भागवत 'सत्य' को यह अनुमति दे देना कि इनके स्थान पर वह अपने ज्ञान, अपनी इच्छा तथा क्रिया को सर्वत्र प्रतिष्ठित कर दे।

*

दो सम्भावनाएँ हैं, एक है, व्यक्तिगत प्रयास के द्वारा आत्म-शुद्धीकरण, जिसमें बहुत समय लगता है, दूसरी है, 'भागवत कृपा' का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप जो सामान्यतः तेज़ी से क्रिया करती है। दूसरी सम्भावना के लिए पूर्ण समर्पण आवश्यक है, और इसके लिए भी एक ऐसे मन का होना ज़रूरी है जो शान्त रह सके और 'भागवत शक्ति' को क्रिया करने दे, यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति हर क़दम पर उसी 'शक्ति' से चिपका रहे, और

वह न कर सके तो बस शान्त और अचञ्चल रह कर उसे ग्रहण करे, लेकिन इस प्रवृत्ति को अपनाना मुश्किल होता है। जो लोग अपने सभी क्रिया-कलापों की सतत सक्रियता में बने रहते हैं उनके लिए मन को नीरव बनाना और मानसिक रूप से आत्मदान करने में बड़ी कठिनाई होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे योग-साधना नहीं कर सकते या आत्मदान करने में सक्षम नहीं होते—बस उनके लिए आत्म-शुद्धीकरण और आत्मदान में अधिक समय लगता है। व्यक्ति के अन्दर अन्त तक जाने के लिए धीरज तथा अटल अध्यवसाय और दृढ़ निश्चय होना चाहिये।

*

श्रद्धा, भगवान् के ऊपर निर्भरता, भागवत शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण और आत्मदान—ये सब आवश्यक और अनिवार्य हैं। परन्तु भगवान् के ऊपर निर्भर रहने के बहाने आलस्य और दुर्बलता को नहीं आने देना चाहिये तथा जो चीज़ें भागवत सत्य के मार्ग में बाधक होती हैं उनका निरन्तर त्याग करते रहना चाहिये। भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण को, अपनी ही वासनाओं तथा निम्नतर प्रवृत्तियों के प्रति या अपने अहंकार या अज्ञान और अन्धकार की किसी शक्ति के प्रति—जो कि भगवान् का मिथ्या रूप धारण करके आती है—आत्म-समर्पण करने का एक बहाना, एक आवरण या एक अवसर नहीं बना देना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६७, ८३, ८६-८७

समर्पण की प्रक्रिया

समर्पण यकायक नहीं हो सकता—यह इतना आसान नहीं है, क्योंकि सत्ता में उसके विरोध में बहुत कुछ होता है। लेकिन, व्यक्ति के अन्दर समर्पण की इच्छा होनी चाहिये। यही समान बात भगवान् का यन्त्र बनने पर भी लागू होती है। अगर तुम्हारे अन्दर इच्छा है और तुम श्रीमाँ को पुकारो तथा उनके प्रति यथासम्भव खुलो तो धीरे-धीरे ये चीज़ें तुम्हारी प्रकृति में विकसित हो सकती हैं।

समर्पण की प्रक्रिया अपने-आपमें एक तपस्या है। न केवल इतना ही, बल्कि वस्तुतः यह तपस्या की दोगुनी प्रक्रिया है, क्योंकि अपने-आपका काफ़ी हद तक समर्पण करने के बाद भी निरन्तर बढ़ता हुआ समर्पण

पथ पर काफ़ी समय तक चलता ही चला जाता है। फिर एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति 'भागवत उपस्थिति' तथा 'भागवत शक्ति' का निरन्तर अनुभव करता है और अधिकाधिक यह अनुभव करता है कि वही सब कुछ कर रही है—तब बुरी-से-बुरी कठिनाइयाँ भी इस अनुभव को विक्षुब्ध नहीं कर सकतीं और तब व्यक्ति का निजी प्रयास आवश्यक नहीं रह जाता, वह सचमुच सम्भव ही नहीं होता। यही है अपनी प्रकृति का परम प्रभु के हाथों में पूर्ण समर्पण का लक्षण। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें इस अनुभूति के आने से पहले ही श्रद्धा प्रतिष्ठित हो जाती है और अगर भक्ति तथा श्रद्धा प्रबल और सुदृढ़ हों तो वे उन्हें अनुभूति तक आगे बढ़ा ले जाती हैं। लेकिन सभी पहले से यह स्थिति नहीं अपना सकते—और कुछ के लिए तो यह ख़तरनाक भी साबित हो सकती है, क्योंकि यह सोचते हुए कि वे अपने-आपको परम प्रभु के हाथों में सौंप रहे हैं, किसी ग़लत शक्ति के हाथों में डाल सकते हैं। अधिकतर के लिए तपस्या के द्वारा समर्पण में विकसित होना अनिवार्य होता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६९, ८२

समर्पण का सार

इस आन्तरिक समर्पण की चाबी है, भगवान् में श्रद्धा और विश्वास। व्यक्ति यह मनोभाव अपना लेता है, "मैं भगवान् को, भगवान् के सिवाय और कुछ नहीं चाहता।" मुझे मालूम नहीं कि तुम भला यह क्यों सोचते हो कि तुम्हें इस मनोभाव को त्याग देने को कहा जा सकता है—अगर यह भाव न रहे तो योग ही नहीं किया जा सकता। "मैं अपने-आपको पूरी तरह से 'उन्हें' दे देना चाहता हूँ और चूँकि मेरी अन्तरात्मा यही चाहती है इसलिए इसके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता कि मैं उन्हें पाकर, उनका साक्षात्कार करके ही रहूँगा। मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं चाहता, बस यही माँगता हूँ कि वे मुझे अपने पास खींच लें—चाहे गुप्त रूप से, चाहे प्रत्यक्ष रूप में, प्रकट या अप्रकट होकर। मैं अपने समय और अपने तरीक़े पर ज़ोर नहीं दे रहा; वे अपना समय लें, अपना तरीक़ा अपनाएँ, मैं उन पर विश्वास करता हूँ, उनकी इच्छा मेरे सिर-आँखों पर, मैं उनके प्रकाश, उनकी उपस्थिति और उनके दिये हर्ष के लिए सतत अभीप्सारत रहता हूँ,

मैं सभी बाधाओं के पार निकलूँगा, कभी हिम्मत न हारूँगा, न ही रास्ते में देर लगाऊँगा। प्रभो! वर दे कि मेरा मन शान्त बना रहे, केवल उनकी ओर मुड़ा रहे और वे अपनी अचञ्चलता और आनन्द में मेरे हृदय को खोल दें; वर दे कि मेरा प्राण शान्त बना रहे, केवल उनकी ओर मुड़ा रहे और वे अपनी अचञ्चलता और अपने आनन्द में मेरे प्राण को खोल दें।
CWSA खण्ड २९, पृ. ७०-७१

इस तथ्य का कि जब तुम पर अवसाद का दौरा पड़े तो तुम्हें अपना सामान्य कार्य छोड़ देना चाहिये—इसका यह मतलब नहीं है कि तुमने स्थिरता नहीं पायी है—इसका बस यही अर्थ है कि जो ठहराव या स्थिरता तुमने पायी है वह अब तक तुम्हारी व्यक्तिगत विशेषता नहीं बनी है, बल्कि वह निर्भर करती है श्रीमाँ के साथ तुम्हारे सम्पर्क पर—क्योंकि उसके पीछे और तुम जो प्रगति कर सकते हो उस सबके पीछे उन्हीं की 'शक्ति' विद्यमान रहती है। अधिकाधिक उस 'शक्ति' का सहारा लेना सीखो, अधिकाधिक पूर्ण रूप से उसके प्रति खुलना सीखो और आध्यात्मिक प्रगति की खोज करो, अपने लिए न सही, भगवान् के लिए करो, ताकि तुम उनकी ओर बढ़ते चलो—और तब तुम अधिक आसानी से रास्ते पार करते चलोगे। सबसे अधिक भौतिक चेतना में भी चैत्य को पूरी तरह से खिलने दो। अपने वर्तमान प्रतिकूल अनुभव से तुम उदासी का नहीं, बल्कि चैत्य के इस अनुभव का सबक सीखो।
CWSA खण्ड २९, पृ. ११३-१४

लेकिन चाहे कोई भी रास्ता क्यों न अपनाया जाये, एकमात्र चीज़ है, सच्चे बने रहना और अन्त तक जाना। तुमने कितनी बार यह निर्णय लिया है—उससे लगे रहो, प्राण के तूफ़ानों को अपनी अन्तरात्मा की अभीप्सा को दबाने मत दो।
CWSA खण्ड २९, पृ. ७१ **श्रीअरविन्द**

समर्पण माँ के प्रति होना चाहिये—
'शक्ति' के प्रति भी नहीं, बल्कि स्वयं 'श्रीमाँ' के प्रति। श्रीअरविन्द

श्रद्धा

श्रद्धा, विश्वास, भरोसा, आस्था

श्रद्धा एक व्यापक शब्द है—यह है भागवत अस्तित्व, प्रज्ञा, शक्ति, प्रेम तथा कृपा में आत्मा का विश्वास। भरोसा तथा आस्था श्रद्धा के पहलू और उसके फल हैं।

भरोसे में इस निश्चिति का भाव होता है कि जब कभी हम सच्चाई से भगवान् को पुकारेंगे तो वे हमारी सुनेंगे, हमारी सहायता के लिए तत्पर रहेंगे और यह भी कि भगवान् जो करते हैं, अच्छे-से-अच्छे के लिए ही करते हैं।

आस्था है, भगवान् और उनके पथ-प्रदर्शन तथा उनकी सुरक्षा पर मन और हृदय की पूर्ण निर्भरता।

*

श्रद्धा (Faith)—ऊर्जस्वी सम्पूर्ण विश्वास तथा स्वीकृति।
विश्वास (Belief)—केवल बौद्धिक स्वीकृति।
दृढ़ धारणा (Conviction)—बौद्धिक विश्वास जो अच्छे कारणों पर टिका प्रतीत होता है।
निर्भरता (Reliance)—किसी वस्तु के लिए अन्य का सहारा लेना, लेकिन वह आस्था पर आधारित हो।
आस्था (Trust)—किसी दूसरे की सहायता पर पूरे-पक्के भरोसे की भावना और उसके वचन, स्वभाव, इत्यादि पर विश्वास।
भरोसा (Confidence)—आस्था के संग चलती सुरक्षा की भावना।
CWSA खण्ड २९, पृ. ८८

श्रद्धा अनुभूति पर निर्भर नहीं करती

मैं श्रद्धा के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ जिसके लिए तुम कहते हो कि वह तुम्हारे अन्दर नहीं है और अनुभूति के अभाव में तुम उसे पा भी नहीं सकते। सबसे पहली बात तो यह है कि श्रद्धा अनुभूति पर निर्भर नहीं करती; यह ऐसी चीज़ है जो अनुभूति से पहले ही उपस्थित रहती है। जब

कोई योग आरम्भ करता है तो वह साधारणतया अनुभव के बल पर नहीं आरम्भ करता बल्कि श्रद्धा-विश्वास के बल पर करता है। यह बात केवल योग और आध्यात्मिक जीवन के लिए ही नहीं बल्कि साधारण जीवन पर भी लागू होती है। सभी कर्मशील व्यक्ति, ज्ञान के आविष्कर्ता, उद्घाटक और स्रष्टा श्रद्धा-विश्वास से ही आरम्भ करते हैं और, जब तक प्रमाण नहीं मिल जाता या कार्य पूरा नहीं हो जाता तब तक वे निराशा, असफलता, प्रमाणाभाव, अस्वीकृति के बावजूद अपना प्रयास जारी रखते हैं, क्योंकि उनमें कोई चीज़ ऐसी होती है जो उनसे कहती है कि यही सत्य है, यही वह चीज़ है जिसका अनुसरण करना चाहिये और जिसे पूरा करना होगा। रामकृष्ण से जब यह पूछा गया कि क्या अन्ध-श्रद्धा रखना अनुचित नहीं है तब उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला कि अन्ध-श्रद्धा ही तो रखनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा या तो अन्धी होती है अथवा वह श्रद्धा ही नहीं होती, बल्कि कोई अन्य चीज़ होती है, जैसे युक्तिपूर्ण अनुमान, प्रमाण-सिद्ध विश्वास या निश्चित ज्ञान।

योग में आवश्यक मूलभूत श्रद्धा

श्रद्धा-विश्वास अन्तरात्मा की किसी ऐसी चीज़ के विषय में गवाही है जो अभी अभिव्यक्त, उपलब्ध या अनुभूत नहीं हुई है, परन्तु फिर भी जिसे हमारे अन्दर का 'ज्ञाता' सभी लक्षणों का अभाव होने पर भी, सत्य या अनुसरण करने अथवा प्राप्त करने-योग्य परम वस्तु अनुभव करता है। यह चीज़ उस समय भी हमारे अन्दर बनी रह सकती है जब मन में कोई दृढ़ विश्वास न हो, यहाँ तक कि जब प्राण संघर्ष करता, विद्रोह करता और अस्वीकार करता हो। ऐसा कौन है जो योगाभ्यास करता हो और जिसके सामने निराशा और असफलता और अविश्वास और अन्धकार के काल, बहुत लम्बे-लम्बे काल न आते हों? परन्तु कोई चीज़ उसमें ऐसी होती है जो उसे सहारा देती है और उसके बावजूद बनी रहती है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि जिस चीज़ का वह अनुसरण कर रही थी वह अब भी सत्य है और इसे वह अनुभव ही नहीं करती बल्कि, उससे कहीं अधिक, वह इसे जानती है। योग की मौलिक श्रद्धा, जो अन्तरात्मा में निहित होती है, यह है कि भगवान् हैं और भगवान् ही वह एकमात्र वस्तु

हैं जिसकी खोज करनी चाहिये—जीवन में दूसरी कोई चीज़ ऐसी नहीं जो उसकी तुलना में प्राप्त करने-योग्य हो। जब तक यह श्रद्धा किसी मनुष्य में है तब तक वह आध्यात्मिक जीवन के लिए निर्दिष्ट है और मैं कहूँगा कि यदि उसकी प्रकृति बाधा-विघ्नों से पूर्ण और अस्वीकृतियों तथा कठिनाइयों से ठसाठस भरी हुई हो फिर भी, और यहाँ तक कि यदि उसे अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़े फिर भी, आध्यात्मिक जीवन में सफलता पाना उसके लिए सुनिश्चित है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९१-९४

निष्ठा

जब मैंने अन्तरात्मा के प्रकाश तथा भागवत पुकार के प्रति निष्ठावान् होने की बात कही थी तब मैं तुम्हारे अतीत की किसी चीज़ या तुम्हारी किसी भूल के बारे में नहीं कह रहा था। मैं बस सभी संकटों और प्रहारों में भागवत पुकार की महान् आवश्यकता के ऊपर ज़ोर दे रहा था—यह कि तुम्हें सभी ग़लत सुझावों, आवेशों, प्रलोभनों से सावधानी के साथ बचना चाहिये, 'सत्य' का दामन थामे रहना चाहिये और 'प्रकाश' के आदेशात्मक संकेत का पालन करना चाहिये। सभी शंकाओं और समस्त उदासी के सामने निरन्तर दोहराते रहना चाहिये, "मैं भगवान् का हूँ, मैं असफल नहीं हो सकता"; अशुद्धता तथा अयोग्यता के सभी सुझावों से कहना चाहिये, "भगवान् के द्वारा चुना हुआ मैं 'अमरता' का बालक हूँ; मुझे बस अपने तथा 'उनके' प्रति सच्चा रहना है—विजय सुनिश्चित है; अगर मैं गिर भी गया फिर भी निश्चित है कि मैं उठ खड़ा होऊँगा"; सभी कामनाओं को खदेड़ दो और किसी भी ओछे आदर्श के पीछे मत चलो, उन सभी से कह दो, "यही उच्चतम है, यही वह परम सत्य है जो मेरे अन्दर की अन्तरात्मा को सन्तुष्ट कर सकता है; मार्ग की सभी अग्नि-परीक्षाओं को पार करता हुआ, कसौटियों पर खरा उतरता हुआ मैं दिव्य यात्रा के अन्त तक जाऊँगा।" 'प्रकाश' तथा 'पुकार' के प्रति निष्ठावान् रहने का मेरा यही तात्पर्य है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९९

केन्द्रीय श्रद्धा की आवश्यकता

मैंने एक प्रबल केन्द्रीय और, सम्भव हो तो, पूर्ण श्रद्धा की बात कही थी, क्योंकि तुम्हारा मनोभाव मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि तुम केवल पूर्ण प्रत्युत्तर की परवाह करते हो—अर्थात् उपलब्धि की, उपस्थिति की परवाह करते हो और अन्य सभी चीज़ों को एकदम असन्तोषजनक मानते हो—और तुम्हारी प्रार्थना तुम्हें वह चीज़ नहीं उपलब्ध करा रही है। परन्तु साधारणतया प्रार्थना स्वयं अपने-आपमें तुरन्त वह चीज़ नहीं उपलब्ध कराती—केवल तभी कराती है जब केन्द्र में ज्वलन्त श्रद्धा या सत्ता के सभी भागों में पूर्ण श्रद्धा होती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिन लोगों की श्रद्धा उतनी प्रबल अथवा समर्पण पूर्ण नहीं है, वे लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते, बल्कि साधारण तौर पर उन्हें तब तक पहले धीमे पग से चलना होता तथा अपनी प्रकृति की कठिनाइयों का सामना करना होता है जब तक कि अध्यवसाय या तपस्या के द्वारा उनके अन्दर पर्याप्त उद्घाटन नहीं हो जाता। डगमगाने वाली श्रद्धा तथा धीमे और आंशिक समर्पण में भी कुछ शक्ति होती है और उनका भी फल होता है, अन्यथा एकमात्र कुछ विरले लोग ही साधना करने में समर्थ होते। केन्द्रीय श्रद्धा से मेरा मतलब है वह श्रद्धा जो पीछे की ओर विद्यमान अन्तरात्मा अथवा केन्द्रीय पुरुष में हो, वह श्रद्धा जो उस समय भी बनी रहती है जब कि मन सन्देह करता, प्राण निराश हो जाता तथा शरीर गिर जाना चाहता है, और जो आक्रमण के समाप्त हो जाने पर पुनः प्रकट होती और फिर से पथ पर चलने की प्रेरणा देती है। यह प्रबल और प्रदीप्त हो सकती है, यह निष्प्रभ और देखने में दुर्बल हो सकती है, पर यह यदि सारे समय आगे चलते रहने का आग्रह करती है तो यही यथार्थ वस्तु है। साधना के पथ में हताशा और अन्धकार के दौरे परम्परा से चले आ रहे हैं—ऐसा लगता है कि सभी पाश्चात्य और पूर्वीय योगाभ्यासों में यही नियम बना हुआ है। मैं स्वयं इन सबके बारे में जानता हूँ—लेकिन मेरी अनुभूति ने मुझे यह दरशा दिया है कि यह अनावश्यक परम्परा है और अगर व्यक्ति चाहे तो इनसे छुटकारा पा सकता है। इसीलिए जब ये दौरे तुम पर या औरों पर पड़ते हैं तो मैं तुम लोगों को केन्द्रीय श्रद्धा तक उठाने का प्रयास करता हूँ। फिर भी अगर वे दौरे आते रहें तो व्यक्ति को जितनी जल्दी हो सके, उनसे पिण्ड छुड़ाना

होगा और सूर्यालोक में दोबारा लौट आना होगा। समुद्र के बारे में तुमने जो सपना देखा वह एकदम सच था—अन्ततः, आँधी और बाढ़ साधक के अन्दर 'कृपा' की स्थिति को आने से नहीं रोक सकतीं और उसके साथ-साथ स्वयं 'कृपा' भी चली आती है। मेरे ख़याल से तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ इसी की माँग कर रही है—कृपा का अतिमानसिक चमत्कार, लेकिन तुम इसके लिए अधीर हो रहे हो और तपस्या में इसकी माँग कर रहे हो, क्योंकि तुम मान रहे हो कि तुमने आत्म-पूर्णता और कठोर परिश्रम का कार्य बहुत कर लिया है और अब सिद्धि को आना ही चाहिये। हाँ, यह आ सकती है, लेकिन लोगों को यह प्राप्त हुई है कई वर्षों की असफलताओं और कठिनाइयों अथवा भयंकर आन्तरिक संघर्षों के बाद—सामान्यतः यह इसी तरह आती है, एक झटके में कभी नहीं मिल सकती—इसमें बहुत परिश्रम लगता है। असफलताओं के बावजूद अगर तुम डटे रहो, 'कृपा' की गुहार लगाते रहो, तो वह आकर रहेगी।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९५-९६

'भागवत कृपा' के बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यह भी पूरी तरह सच है कि अगर व्यक्ति सच्चा और निष्कपट है तो वह भगवान् तक पहुँच कर रहेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि वह तुरन्त, बिना प्रयास के, बिना विलम्ब के पहुँच जायेगा। तुमने यह भूल की कि तुमने भगवान् के सामने यह शर्त रख दी कि पाँच-छह सालों में तुम उन्हें पा लोगे, और फिर तुम्हारे अन्दर सन्देह ने इस कारण डेरा डाल लिया कि तुम्हें अब इसका कोई परिणाम ही नहीं दीख रहा है। व्यक्ति केन्द्रित रूप से सच्चा हो सकता है, लेकिन फिर भी, सिद्धि के प्रारम्भ हो सकने से पहले उसके अन्दर कई ऐसी चीज़ें हो सकती हैं जिनको बदलना ज़रूरी होता है। उसके अन्दर ऐसी सच्चाई होनी चाहिये जो हमेशा डटी रहे—क्योंकि भगवान् को पाने की प्यास को कोई चीज़ नहीं बुझा सकती—न विलम्ब, न निराशा न ही किसी भी तरह की कोई भी कठिनाई।

CWSA खण्ड २९, पृ. ११६-१७ श्रीअरविन्द

लगन

जल्दबाज़ी प्रगति में देर लगाती है

अधिक गभीर और आध्यात्मिक अर्थ में तुम्हारे लिए ठोस सिद्धि वह है जो किसी भी भौतिक वस्तु की अपेक्षा तुम्हारी चेतना में अधिक सच्ची तथा ऊर्जस्वी है और वहाँ घनिष्ठ रूप में विद्यमान है। वैयक्तिक भगवान् या निर्वैयक्तिक ब्रह्म अथवा 'आत्मा' की इस तरह की उपलब्धि सामान्य तौर पर साधना के आरम्भ में या प्रारम्भिक वर्षों या कई वर्षों तक नहीं होती। इस तरह की अनुभूति बहुत ही कम लोगों को होती है; मुझे योग शुरू करने से पहले लन्दन में हुई अनुभूति के पन्द्रह सालों के बाद और योग आरम्भ करने के पाँच साल बाद ऐसी अनुभूति हुई थी। और इसे मैं असाधारण रूप से तेज़ समझता हूँ, प्रायः एक्सप्रेस रेलगाड़ी की गति के जितना—हालाँकि इसमें कोई शक नहीं कि शायद कुछ अनुभूतियाँ ज़्यादा जल्दी भी प्राप्त हो जाती हों। लेकिन उपलब्धि पाने की आशा रखना, इतनी जल्दी उसकी माँग करना और अगर वह तुम्हारे मुताबिक़ न आये तो योग को असम्भव घोषित कर देना या किसी भी अनुभूतिप्राप्त योगी या साधक के सामने यह कह बैठना कि युगों-युगों में बस दो या तीन ही ऐसी सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, इसे तो मैं जल्दबाज़ी और अस्वाभाविक अधीरता ही कहूँगा। अधिकतर लोग यही कहेंगे कि साधना के आरम्भिक वर्षों में साधक को धीमे विकास की ही आशा करनी चाहिये और ठोस अनुभूति केवल तभी आ सकती है जब उसकी प्रकृति तैयार हो और पूरी तरह से भगवान् पर केन्द्रित हो। कइयों के लिए कुछ प्रारम्भिक अनुभूतियाँ साधना के शुरुआत के दौर में ही तेज़ी से आ सकती हैं, लेकिन वे भी चेतना को बदलने के उस परिश्रम से नहीं बच सकते जो उन अनुभूतियों को स्थिर और पूर्ण सिद्धि में परिवर्तित कर देता है। इसमें मेरी पसन्द या नापसन्द, तुम्हारी माँग या मनोभाव का प्रश्न नहीं है। यह एक तथ्य है, सत्य है और है अनुभूति, पसन्द या नापसन्द की बात नहीं है—ये दो चीज़ें हैं जो मुझे सामान्यतः प्रभावित नहीं करतीं। यह एकदम सच बात है कि कृतज्ञ और प्रसन्न लोग और जो योग में पग-पग आगे बढ़ने के लिए तैयार हैं, अगर आवश्यक हो तो भले उनकी गति बहुत धीमी क्यों न हो, वे ही दरअसल

उन लोगों से कहीं अधिक तेज़ी से और सुनिश्चित रूप से आगे बढ़ते हैं जो अधीर हैं, हमेशा जल्दबाज़ी मचाते हैं और पग-पग पर हताश होते और बड़बड़ाते हैं। हमेशा मैंने यही देखा है—हो सकता है इसके विपरीत उदाहरण भी हों, और मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं कि तुम अपने-आपको उनमें से एक मानते हो—कोई एतराज़ नहीं है मुझे। मैं बस इतना कह रहा हूँ कि अगर तुम "आशा, उत्साह और श्रद्धा" को बनाये रख सको तो तुम्हारे सफल होने की सम्भावना कहीं ज़्यादा बढ़ जाती है—बस इतना ही।

रूपान्तर के योग में धीरज आवश्यक है

तुम कहते हो कि इतने वर्षों के बाद भी तुम्हारा स्वभाव नहीं बदला है। काश! बाहरी प्रकृति का रूपान्तर करना इतना आसान होता कि यह काम कुछ वर्षों में ही किया जा सकता। तुम यह भी भूल रहे हो कि सच्ची समस्या, यानी अपने स्वभाव में बसे हुए इस अहंकार से छुटकारा पाने के इस कठिन काम को गम्भीरतापूर्वक करने का बीड़ा तुमने कुछ समय पहले ही उठाया है। और यह ऐसा काम नहीं है जिसे कुछ ही महीनों में किया जा सके। यहाँ तक कि उत्तम साधक भी उच्चतर स्तरों पर हुई अनुभूतियों और बड़े-बड़े परिवर्तनों के बाद भी देखते हैं कि अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है। तुम यह आशा कैसे कर सकते हो कि औरों से भिन्न, तुम इस सबसे एकदम से पिण्ड कैसे छुड़ा लोगे भला? इस प्रकार के योग में धीरज की आवश्यकता होती है, क्योंकि इस योग का अर्थ ही है कि व्यक्ति अपने मूलभूत उद्देश्यों और अपनी सत्ता के प्रत्येक भाग और प्रत्येक ब्योरे को परिवर्तित करे। बस इतना कहने से काम न चलेगा कि—"कल मैंने यह दृढ़ निश्चय किया था कि इस बार मैं अपने-आपको पूरी तरह से श्रीमाँ के अर्पण कर दूँगा, और देखो, ऐसा हुआ नहीं, इसके विपरीत, मेरे अन्दर सभी विरोधी चीज़ें एक बार फिर सिर उठा रही हैं, तो करने-लायक अब और कुछ बाक़ी नहीं रहा, अब मुझे अपने-आपको अनुपयुक्त घोषित कर, योग का त्याग कर देना चाहिये।" निस्सन्देह, जब तुम ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हो कि योग छोड़ने का निश्चय कर बैठो तो तुरन्त सभी बाधाएँ सिर उठा लेती हैं—निश्चित रूप से यही होता है। तब करने-लायक चीज़ है, पीछे हट जाना, आत्म-निरीक्षण करना, ऐसे विचारों

को अस्वीकार कर देना, अपने-आपको इनके शिकंजे में जकड़ने न देना, अपनी केन्द्रीय श्रद्धा को इससे अलग रखना और श्रीमाँ की 'शक्ति' को निरन्तर पुकारते रहना कि वही आकर इन चीज़ों से निबटे। अगर तुम इन विचारों में फँस जाओ—जैसा कि प्रायः होता है, तो जितनी जल्दी हो सके इनसे बाहर निकल आओ और अपनी राह पर आगे बढ़ चलो। हर एक यही करता है, यहाँ तक कि योगी भी; इस तथ्य से हताश हो जाना कि तुम सब कुछ तेज़ी से नहीं कर पा रहे—यह योग के एकदम विपरीत है। लड़खड़ाहट का यह मतलब नहीं कि व्यक्ति अनुपयुक्त है, न ही लम्बे समय तक खिंचती चली आयी कठिनाई इस बात का प्रतीक होती है कि उसके लिए योग करना असम्भव है।

... सीधे-सादे ढंग से रखूँ तो मैं यही कहूँगा—हमेशा के लिए यह स्वीकार कर लो कि तुम्हें यही करना है, तुम्हारे लिए या धरती के लिए बस यही कार्य पूरा करना बाक़ी है—योगाभ्यास। बाहर भले भूकम्प आते रहें, हिटलरों का आविर्भाव होता रहे, सभ्यता चकनाचूर हो जाये—व्यापक रूप में कहें तो भले नाव मँझधार में डूबती-उतराती रहे, लेकिन करना तुम्हें बस एक ही काम है—योगाभ्यास। यह तो योग करने का सबसे बड़ा कारण है। हाँ, योग करना कठिन है, मार्ग लम्बा है, दुरूह है और कभी-कभी प्रोत्साहन भी कम मिलता है, तो क्या हुआ? तुम यह क्यों आशा करते हो कि इतने बड़े कार्य को सम्पन्न करना आसान होगा या इसके लिए एक द्रुत मार्ग भी होना चाहिये ताकि सफलता तुम्हें जल्द-से-जल्द मिल जाये? इसमें कठिनाइयों का तो सामना करना ही होगा और जितनी प्रसन्नता के साथ उनका सामना किया जाये उतनी जल्दी तुम उन पर विजय पा लोगे। करने-लायक एकमात्र चीज़ है—सफलता का मन्त्र जपते रहो, विजय पर दृढ़ श्रद्धा रखो और अपना मूलमन्त्र बना लो, "मैं इसे पाकर रहूँगा, मैं इसे पाकर रहूँगा।" असम्भव? ऐसी कोई चीज़ ही नहीं है जिस पर तुम असम्भव का बिल्ला चिपका सको—हाँ, कठिनाइयाँ, मुश्किलें, बाधाएँ ज़रूर आती हैं, दीर्घसूत्रता भी अवश्य आयेगी, लेकिन कुछ भी असम्भव नहीं है। तुम जिस काम को करने का बीड़ा उठा लो उसे देर-सवेर चरितार्थ करके रहोगे—वह सम्भव बन जाता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ११२-१३, ११५-१६ **श्रीअरविन्द**

भक्ति

भगवान् तक पहुँचने का एकमात्र लघु पथ

भगवान् तक पहुँचने के साधनों में से एक है ध्यान, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उन तक पहुँचने का यह छोटा रास्ता है—क्योंकि ज़्यादातर लोगों के लिए यह लम्बा और कठिन, साथ ही बहुत ऊँची चढ़ाई का मार्ग है। किसी भी हालत में यह लघु पथ नहीं हो सकता जब तक कि इससे कोई अवतरण न हो जाये, ऐसा होने पर भी बस यह कहा जा सकता है कि नींव जल्दी पड़ गयी—उसके बाद उस नींव पर ध्यान के द्वारा बहुत परिश्रम के साथ एक बड़ी इमारत खड़ी करनी होती है। यह एकदम अनिवार्य होता है, लेकिन इसमें किसी छोटे रास्ते से पहुँच जाने की बात ही नहीं उठती।

कर्म करना कहीं अधिक आसान पथ है—बशर्ते व्यक्ति का मन इतनी हद तक कर्म में न रम जाये कि वह भगवान् का ही बहिष्कार कर दे। तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये—'भगवान्'—और कर्म उन तक पहुँचने के कई साधनों में से एक साधन-मात्र हो सकता है। कविता इत्यादि के प्रयोग से व्यक्ति अपनी आन्तरिक सत्ता के सम्पर्क में बना रहता है और उसकी अन्तरतम सत्ता से सम्पर्क साधने में वह उसकी मदद कर सकती है, लेकिन उसे बस वहीं नहीं रुक जाना चाहिये, उसे सच्ची वस्तु तक पहुँचना चाहिये। अगर व्यक्ति बस "साहित्यिक व्यक्ति", एक कवि, एक चित्रकार की हैसियत से ही नाम कमाना चाहे तो उसे यौगिक मनोवृत्ति नहीं कहा जा सकता। इसीलिए मुझे कई बार कहना पड़ता है कि हम योगी बनना चाहते हैं, मात्र कवि, चित्रकार इत्यादि नहीं।

प्रेम, भक्ति, समर्पण, चैत्य-उद्घाटन—बस ये ही हैं भगवान् तक पहुँचने के छोटे रास्ते, या ये बन सकते हैं; क्योंकि अगर प्रेम और भक्ति बहुत प्राणिक हों तो सम्भव है कि कभी व्यक्ति के अन्दर बहुत आह्लादकारी प्रत्याशा हो तो कभी वह विरह, अभिमान या हताशा में डूबने-उतराने लगे, तो यह छोटा रास्ता न होकर लम्बा और टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बन जायेगा, सीधी उड़ान न होकर, यानी भगवान् की ओर सीधी दौड़ न होकर व्यक्ति अपने ही अहंकार के चारों तरफ़ नाचता-फिरता रहेगा।

योग प्राणिक भावना नहीं है

जो प्रेम भगवान् की ओर मोड़ा जाता है वह साधारण प्राणिक भाव नहीं होना चाहिये जिसे मनुष्य प्रेम कहते हैं, क्योंकि वह प्रेम नहीं है, बल्कि केवल प्राणिक कामना है, स्वायत्त करने की सहज वृत्ति है, अधिगत करने और एकाधिकार जमाने का आवेग है। यह नहीं कि वह दिव्य प्रेम नहीं है, बल्कि उसे योग में थोड़ी-सी मात्रा में भी नहीं मिलने देना चाहिये। भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम है आत्मदान—माँग से मुक्त, नमन और समर्पण से पूर्णतः युक्त, वह प्रेम कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त नहीं लादता, कोई मोल-तोल नहीं करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोध की ज़बरदस्तियों में रत नहीं होता—क्योंकि ये चीज़ें उसकी बनावट में ही नहीं हैं। उसके बदले में भगवती माता भी अपने-आपको दे देती हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से—और वह चीज़ आन्तरिक दान के रूप में अपने-आपको प्रकट करती है—तुम्हारे मन, तुम्हारे प्राण, तुम्हारी भौतिक चेतना में उनकी उपस्थिति होती है, उनकी शक्ति तुम्हें दिव्य प्रकृति में नवजन्म देती, तुम्हारी सत्ता की सभी गतियों को ऊपर उठाती और उन्हें पूर्णता एवं उपलब्धि की ओर ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें परिव्याप्त कर लेता और तुम्हें अपनी गोद में लेकर भगवान् की ओर ले जाता है। यही वह प्रेम है जिसे अपने सब भागों में, एकदम भौतिक भाग तक में, अनुभव करने और प्राप्त करने की अभीप्सा तुम्हें अवश्य करनी चाहिये, और इस प्रेम की कुछ भी सीमा नहीं है, न समय में और न परिपूर्णता में। अगर कोई सच्चे तौर पर इसकी अभीप्सा करता और इसे पा लेता है तो किसी और दावे की या किसी हताश कामना की कोई गुंजायश ही नहीं रहनी चाहिये। और यदि कोई सच्चे भाव से अभीप्सा करता है तो वह इसे निश्चित रूप से प्राप्त करता है, ज्यों-ज्यों प्रकृति शुद्ध होती जाती है और अपना अपेक्षित परिवर्तन करती जाती है त्यों-त्यों वह इसे अधिकाधिक प्राप्त करता जाता है।

अपने प्रेम को समस्त स्वार्थपूर्ण दावों और कामनाओं से मुक्त रखो; तुम देखोगे कि उसके उत्तर में तुम्हें वह सब प्रेम प्राप्त होने लगा है जिसे तुम सहन और आत्मसात् कर सकते हो।

CWSA खण्ड २९, पृ. २१२, ३३८-३९

भक्ति और प्रेम

भक्ति का स्वभाव ही है आराधना, पूजा, उसके प्रति आत्मोत्सर्ग जो तुमसे अधिक महान् है—प्रेम का स्वभाव ही है, भगवान् के साथ घनिष्ठता और एकता की इच्छा रखना। दोनों का विशेष गुण है—आत्मोत्सर्ग; ये दोनों ही चीज़ें योग में ज़रूरी हैं और जब दोनों परस्पर एक दूसरे का सहारा बनती हैं तो अपनी पूरी शक्ति पाती हैं।

हम यह नहीं कह सकते कि भगवान् का नाम प्रेम है, प्रेम उनकी चेतना और उनकी सत्ता की शक्ति है। भक्ति और प्रेम समान चीज़ें नहीं हैं, लेकिन प्रेम भक्ति के तत्त्वों में से एक है। विभिन्न प्रकार की भक्ति होती हैं और जिसमें प्रेम का आधिक्य होता है वह प्रबलतम होती है और उसे उच्चतम, तीव्रतम और सबसे अधिक आह्लादक माना जाता है। साथ ही, स्वयं प्रेम में उसका वह रूप जिसमें आत्म-दान होता है, समर्पण, पूर्ण आराधना, प्रभु के साथ निस्स्वार्थ ऐक्य की ललक होती है, वही सच्ची भक्ति है, वही है प्रेम। "प्रेम को जीतना" या "विजेता से प्रेम करना"—इसका अर्थ है, उस सब पर प्रेम का छा जाना जो उसके साम्राज्य में बाधक बन कर खड़ा होता है, यानी, अज्ञान, मिथ्यात्व, स्वार्थ, अहंकार, कामना और वासना, बहिर्मुखी और आत्म-केन्द्रित इच्छाओं तथा ऐसी सभी चीज़ों पर वह तब तक छाया रहता है जब तक उन पर एकच्छत्र उसी का राज्य नहीं हो जाता और वह सर्वविजयी नहीं बन जाता, तब वह उन सब पर 'भागवत चेतना' के अन्य सभी उपहारों को भी उतार लाता है। प्रेम तथा निस्स्वार्थ-भाव और आत्म-दान के द्वारा ही साधक 'प्रेम' को अपने ऊपर विजय पाने में सहायता दे सकता है।

मेरे ख़याल से प्रेमभक्ति होनी चाहिये—अर्थात्, ऐसी भक्ति जिसके आधार में प्रेम हो; आराधना, आत्म-समर्पण, श्रद्धा-भाव, आज्ञापालन इत्यादि से भरी भक्ति भी हो सकती है, लेकिन सम्भव है कि उसमें प्रेमभाव न हो।

निस्स्वार्थ-भाव, आत्म-दान, पूर्ण श्रद्धा और विश्वास, माँग और कामना का न होना, 'भागवत इच्छा' के प्रति समर्पण, भगवान् को निवेदित प्रेम—ये हैं सच्चे प्रेम और भक्ति के कुछ प्रमुख लक्षण।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३५६ **श्रीअरविन्द**

सरल बने रहो

जानते हो, हम जटिलताओं से घिरे रहते हैं, लेकिन हमेशा एक ऐसा स्थान होता है जहाँ सब कुछ सरल-सीधा बन जाता है—यह मेरी अपनी अनुभूति है। तुम किसी काम के लिए गोल-गोल घूमते रहते हो, उसे सफल बनाने के लिए ख़ूब परिश्रम करते हो, कई बार तुम्हें लगता है कि तुम एकदम फँस गये हो, और अचानक तुम्हारा आन्तरिक मनोभाव सब कुछ छोड़ देता है, और लो, काम हो जाता है, समस्या सुलझ जाती है—एकदम आसानी से अनायास!

मुझे यह अनुभव कई बार हुआ है। तो जब तुम्हारे सामने मुश्किल खड़ी हुई (साधक श्रीअरविन्द पर एक पुस्तक लिख रहा था। उसी के दौरान उसे ऐसा लगा मानों उसका क़लम एकदम ठप्प पड़ गया हो।) तो मैंने श्रीअरविन्द से तुम्हें भी ऐसी अनुभूति प्रदान करने की प्रार्थना की।

और उन्होंने बार-बार कहा, ज़ोर दे-देकर कहा : *सरल बने रहो, सरल बने रहो। वही कहो जो तुम अनुभव करते हो। सरल रहो, सरल रहो*—बहुत आग्रह के साथ वे यह कह रहे थे। हाँ, ये केवल शब्द हैं, लेकिन दरअसल जब उन्होंने इन शब्दों का उच्चारण किया तो मानों सम्मुख प्रकाश का एक पथ खुल गया और सब कुछ कितना सरल बन गया : 'बस, एक के बाद एक डग आगे बढ़ाते चलो, बस हमें यही करना है!'—मुझे ठीक यही अनुभूति हुई।

बड़ी अजीब बात है, जान पड़ता था कि यहाँ सभी जटिलताएँ मौजूद हैं (*श्रीमाँ अपनी कनपटियाँ छूती हैं*) बहुत जटिल, और समायोजन करने में भी बड़ी दिक्कत होती है; और जब उन्होंने कहा, सरल रहो—तो कैसी विचित्र बात थी—मानों उनकी आँखों से प्रकाश निकल रहा हो, मानों व्यक्ति पल-भर में प्रकाश के एक आनन्दप्रद बग़ीचे में पहुँच गया हो।

सरल बने रहो, सरल बने रहो।

जटिलताएँ यहाँ हैं (*समान संकेत*) यह कठोर और जटिल है—और फिर एक दरवाज़ा खुल जाता है : *सरल रहो*...

जिसे वे *सरल* कहते हैं वह हर्षप्रद सहजता है; क्रिया में, अभिव्यक्ति में, गतिविधि में, जीवन में—*सरल बनो, सरल रहो, सरल बने रहो*।

आनन्ददायक सहजता। क्रमविकास में उस अवस्था को फिर से प्राप्त करना जिसे वे दिव्य अवस्था कहते हैं, जो एकदम सहज और प्रसन्न अवस्था होती है। वे चाहते हैं कि हम उसकी पुनः खोज करें। और कई दिनों से वे मुझसे यह बात कह रहे हैं (यही बात तुम्हारे काम के लिए भी लागू होती है): सरल रहो, सरल रहो, सरल बने रहो। और उनकी सरलता में बने रहना एक उज्ज्वल आनन्द प्रदान करता है।

आनन्दमयी सहजता।

सब कुछ व्यवस्थित करने, काट-छाँट कर एकदम ठोस बना देने वाला यह मन ही भयंकर है! इसने हमारे अन्दर यह बात कूट-कूट कर भर दी है कि इसके बिना हमारा बेड़ा पार नहीं हो सकता, कि इसका प्रतिरोध करना बड़ा मुश्किल हो जाता है। सचमुच, इसने सारी मानवजाति को यह विश्वास दिला दिया है। दुनिया के सभी तथाकथित श्रेष्ठ लोगों के अन्दर यह बात पैठ गयी है कि व्यवस्था करने वाली इस मानसिक शक्ति के बिना कुछ भी सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

लेकिन श्रीअरविन्द चाहते हैं कि हमारे अन्दर वही समान आनन्द हो जो खिलते हुए गुलाब में देखा जाता है: सरल रहो, सरल रहो, सरल रहो। और जब मैं यह सुनती हूँ या देखती हूँ तो ऐसा लगता है मानों कोई सुनहरी ज्योति की नहर बह चली हो, कोई बग़ीचा महक उठा हो—सब, सब, सब कुछ खुला हुआ है। *सरल बने रहो*।...

१६ सितम्बर, १९६१ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

जो मैंने लिखा वह उसके उत्तर में था जो तुम पहले योग के बारे में सोचते थे कि अगर व्यक्ति भगवान् को चाहे तो भगवान् स्वयं उसके हृदय को शुद्ध करने, उसकी साधना को आगे बढ़ाने और उसे आवश्यक अनुभूतियाँ प्रदान करने का काम अपने हाथ में ले लेंगे। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अगर व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा-विश्वास हो और हो समर्पण करने की इच्छा तो ऐसा हो सकता और होता है। क्योंकि इस तरह भगवान् द्वारा ले लिये जाने पर तुम्हें, अपने ही प्रयासों पर विश्वास करने की जगह, स्वयं को पूरी तरह प्रभु के हाथों सौंप देना होगा; इसका अर्थ है कि उन प्रभु पर श्रद्धा-विश्वास दृढ़ता से जमाये रखना और क्रमशः आत्म-समर्पण करते रहना होगा। वस्तुतः यही

साधना का मूलभूत तथ्य है और स्वयं मैंने भी इसी का अनुसरण किया है और मेरे योग की धुरी यही है। मेरे ख्याल से, रामकृष्ण बिलौटे के रूपक में इसी प्रक्रिया की बात कर रहे हैं। लेकिन सभी तत्काल इसका अनुसरण नहीं कर सकते; इस तक पहूँचने में उनको समय लगता है—जब मन और प्राण शान्त हो जाते हैं तभी इसे सबसे अधिक आसानी से किया जा सकता है।
CWSA खण्ड २९, पृ. ७०

... भ्रान्तियाँ दूर करने के लिए मुझे शायद दो-एक बातें और जोड़ देनी चाहियें। पहली, भगवान् के प्रति, जिस प्रेम की मैं चर्चा कर रहा हूँ, वह केवल आन्तरात्मिक प्रेम ही नहीं है; वह प्रेम है व्यक्ति की सारी सत्ता का, जिसमें प्राण और प्राणमय भौतिक सत्ता भी आ जाती है—ये सभी आत्मोत्सर्ग के लिए एक समान समर्थ होती हैं। दूसरी, यह मान लेना भूल होगी कि अगर प्राण प्रेम करे तो अवश्य ही वह ऐसा प्रेम होगा जो अपनी कामना की तृप्ति की माँग करेगा और उसे शर्त के रूप में लादेगा; यह सोचना ग़लत होगा कि वह या तो अवश्य ऐसा ही होगा या प्राण के लिए आवश्यक है कि वह अपनी "आसक्ति" से बचने के लिए अपने प्रेम के पात्र से सर्वथा दूर हट जाये। प्राण अपने निस्संकोच आत्मदान में उतना ही पूर्ण हो सकता है जितना प्रकृति का अन्य कोई भी भाग; जब यह अपने प्रियतम के लिए अपने-आपको भुला देता है तब कोई भी भाग इसकी अपेक्षा अधिक उदार नहीं हो सकता। प्राण और शरीर दोनों को सच्चे तरीक़े से—सच्चे प्रेम के तरीक़े से, अहं की इच्छा के तरीक़े से नहीं—अपने-आपका उत्सर्ग कर देना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३३९ श्रीअरविन्द

योग का वास्तविक ध्येय

तो क्या वास्तविक स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज़ है ही नहीं? या सब कुछ, यहाँ तक कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी पूर्ण रूप से पूर्वनिर्धारित रहती है, और क्या प्रारब्धवाद ही परम रहस्य है?

स्वतन्त्रता और प्रारब्ध, स्वाधीनता और नियतिवाद, ये चेतना के विभिन्न स्तरों के सत्य हैं। अज्ञान के कारण मन इन्हें एक ही स्तर पर लाकर रख देता है और इनमें विरोध देखता है। चेतना एक ही प्रकार की सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमि जैसी नहीं है, उसके अनेक आयाम हैं। उच्चतम ऊँचाई पर परम पुरुष हैं और निम्नतम गहराई में जड़-प्रकृति है और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊँचाई के बीच में चेतनाओं की अनन्त भूमिकाओं का क्रमविन्यास है।

जड़-प्रकृति के क्षेत्र में और साधारण चेतना के स्तर पर तुम्हारे हाथ-पैर बँधे रहते हैं। प्रकृति की यान्त्रिकता के ग़ुलाम होने के कारण तुम कर्म की साँकल से जकड़े हुए हो, और इस साँकल के बन्धन में रहते हुए जो कुछ होता है वह अचूक रूप से पूर्वकर्मों के परिणामस्वरूप होता है। इस अवस्था में स्वतन्त्र गति का जो भान होता है वह भ्रम है, यथार्थ में जो दूसरे करते हैं तुम भी उसी को ही दोहराते रहते हो, प्रकृति की जो विश्वगतियाँ हैं तुम उनकी प्रतिध्वनिमात्र हो, तुम उसके विश्व-यन्त्र के कुचल देने वाले माया-चक्र पर चढ़ कर असहाय रूप से चक्कर खाते रहते हो।

परन्तु यह होना आवश्यक नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थिति को बदल सकते हो और नीचे पड़े रह कर रौंदे जाने या कठपुतली की तरह नचाये जाने के बदले ऊपर उठ सकते हो और वहीं से संसार-चक्र और उसकी अवस्थाओं को देख सकते हो तथा तुम अपनी चेतना के परिवर्तन द्वारा इस चक्र को घुमाने वाले किसी हत्थे को क़ब्ज़े में कर सकते हो जिससे अनिवार्य दीखने वाली इन घटनाओं का परिचालन कर सको और निश्चित अवस्थाओं को बदल सको। एक बार तुम अपने-आपको इस भँवर से बाहर निकाल कर ऊपर खड़े हो सको तो स्वयं को मुक्त पाओगे, इतना ही नहीं कि विवशताओं से मुक्ति पाकर तुम प्रकृति के निष्क्रिय उपकरण न रहोगे, बल्कि तुम उसके सक्रिय प्रतिनिधि बन जाओगे। केवल यही नहीं

कि तुम अपने कर्मफलों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे, बल्कि तुम अपने कर्मफल को बदल भी सकोगे। एक बार तुम शक्तियों की लीला को देख पाओ, चेतना की उस भूमिका में ऊपर उठ जाओ जहाँ से शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्‌गमों के साथ अपने-आपको एक कर लो, तो तुम उस श्रेणी के नहीं रहोगे जिसे परिचालित किया जाता है, बल्कि उस श्रेणी के हो जाओगे जो परिचालन करती है।

यही है योग का वास्तविक ध्येय—कर्म-चक्र से बाहर निकल कर भागवत गति में प्रवेश करना। योग के द्वारा तुम प्रकृति की उस यान्त्रिक गति से छुटकारा पा सकते हो जिसमें तुम एक मूढ़ ग़ुलाम, एक असहाय और बेबस उपकरण-भर हो। तुम एक दूसरी भूमिका में ऊपर उठ जाते हो जहाँ किसी उच्चतर भवितव्यता को कार्य में परिणत करने के लिए तुम एक सचेतन सहयोगी और सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतना की यह गति द्विविध होती है। पहले आरोहण होता है, तुम अपने-आपको जड़-प्राकृतिक चेतना की सतह से ऊपर उठा कर श्रेष्ठतर क्षेत्रों में ले जाते हो। परन्तु निचले क्षेत्रों से उपरले क्षेत्रों में आरोहण ऊपर की चेतना को निचले क्षेत्रों में उतरने के लिए बुलाना है। जब तुम पृथ्वी से ऊपर उठते हो तो ऊपर की किसी चीज़ को भी इस पृथ्वी पर उतार लाते हो—किसी ऐसी ज्योति या शक्ति को जो इस पृथ्वी की पुरानी प्रकृति का रूपान्तर कर देती है या उसे रूपान्तरित होने के लिए प्रवृत्त करती है। और तब जो चीज़ें अभी तक एक-दूसरे से अलग, बेमेल और विषम थीं, तुम्हारे अन्दर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह, तुम्हारी सत्ता और चेतना के आन्तर और बाह्य स्तर, एक दूसरे से मिलते और धीरे-धीरे आपस में जुड़ जाते हैं, क्रमशः एक सत्य और एक सामञ्जस्य में परिणत हो जाते हैं।

लोग जिन्हें चमत्कार कहते हैं, वे इसी तरह होते हैं। यह जगत् चेतना की अनेक भूमिकाओं से बना है और प्रत्येक भूमिका के अपने-अपने स्पष्ट नियम हैं। एक भूमिका के नियम दूसरी भूमिका पर लागू नहीं होते। चमत्कार का अर्थ ही है किसी प्रकार का आकस्मिक अवतरण, किसी अन्य चेतना और उसकी शक्तियों का—बहुधा प्राण की शक्तियों का—इस स्थूल भौतिक लोक में उतर आना।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ३४-३६

'पुरोधा':

दैनन्दिनी

जुलाई

१. प्रगति विस्तार में है, प्रतिरोध में नहीं।
सभी दृष्टिबिन्दुओं को, हर एक को उसके सच्चे स्थान पर रख कर, साथ रखना चाहिये, किसी की अवहेलना करके किसी और पर ज़ोर न देना चाहिये। सच्ची प्रगति आत्मा के विस्तार और सभी सीमाओं के समापन में है।

२. मानव मन में श्रद्धा की कमी जटिलताएँ और पीड़ा लाती रहती है, जब कि भागवत पथ-प्रदर्शन पर शान्त श्रद्धा हो तो सब कुछ बहुत सीधा और सरल हो सकता है।

३. परम प्रज्ञा सब कुछ देख रही है। एक बात के बारे में हमें विश्वास होना चाहिये—जो कुछ होता है वह ठीक वही होता है जो होना चाहिये ताकि हमें और जगत् को जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी लक्ष्य तक पहुँचा सके—लक्ष्य है, भगवान् के साथ ऐक्य और अन्त में भगवान् की अभिव्यक्ति। और यह श्रद्धा—सच्ची और सतत—एक साथ हमारी सहायता और सुरक्षा है।

४. भौतिक स्वास्थ्य की तरह मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य भी है। जैसे शरीर और क्रिया-कलाप की सुन्दरता होती है उसी तरह संवेदनों में भी सुन्दरता और सामञ्जस्य होता है।

५. मन की निश्चल-नीरवता का अभ्यास करो, यह समझने की शक्ति देती है।

६. हम हमेशा उन चीज़ों से घिरे रहते हैं जिनके बारे में हम सोचते हैं।

७. भागवत प्रेम सबके साथ है, प्रत्येक की प्रगति के लिए समान रूप से कार्य कर रहा है—लेकिन विजय उन्हीं में पाता है जो उसकी परवाह करते हैं।

८. मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि अपने अन्दर जाना और वहाँ से शक्ति पाना अपने-आपको उत्तेजित कार्य में फेंकने की अपेक्षा ज़्यादा सहायक है। निश्चय ही तमस् अच्छा नहीं है, लेकिन तमस् को बदला

जा सकता है केवल भागवत चेतना के प्रति समर्पण द्वारा।

९. साधारणतः महत्त्वाकांक्षा-भरी योजनाएँ असफल होती हैं। ज़्यादा अच्छा है कि धीरे-धीरे किन्तु स्थिरता से चलो।

१०. अपने काम पर एकाग्र होओ—इसी से तुम्हें बल मिलता है।

११. जो कुछ भी होता है हमें एक और समान पाठ सिखाने के लिए होता है। जब तक हम अपने अहंकार से छुटकारा नहीं पा लेते तब तक कोई शान्ति नहीं हो सकती, न हमारे लिए न औरों के लिए, और अहंकार के बिना जीवन एक अद्‌भुत चमत्कार हो उठता है!...

१२. जब समता प्राप्त हो जाये तभी शान्ति शरीर में पूर्ण होती है। अगर मन में थोड़ी-सी भी परेशानी या तकलीफ़ हो तो हमें समझ लेना चाहिये कि समता में हलचल या दोष आ गया है।

१३. 'तू' ही वह परम संरक्षक है जो सभी शत्रुओं को हरा देता है। अगर तुम भगवान् को सब कुछ दे दो, कुछ भी बचा कर न रखो तो तुम जो कुछ भी करो, जो कुछ सोचो, जो कुछ अनुभव करो, उस सबमें भगवान् हमेशा और हर क्षण पूरी तरह तुम्हारे साथ रहेंगे।

१४. ... तुम्हें सब परिस्थितियों में सदा ग्रहणशील रहना सीखना चाहिये—विशेष रूप से तब जब तुम आराम करते हो—वह तामसिक 'विश्राम' नहीं बल्कि सच्ची ग्रहणशीलता का विश्राम होना चाहिये।

१५. भविष्य अनिवार्यतः भूतकाल से अधिक अच्छा है। हमें बस आगे बढ़े चलना है।

१६. हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी कृतज्ञता की ओर उल्लसित तथा पूरे विश्वास के साथ आज्ञापालन करने की तीव्र लौ को स्वीकार करें।

१७. निरन्तर विकास में ही जीवन है, अगर हम सजीव मानसिकता चाहते हैं तो हमें बिना रुके प्रगति करते रहना चाहिये।

१८. जब तक तुम अपने विचारों पर नियन्त्रण न रख पाओ, उनके निरीक्षक, निर्णायक और स्वामी न बन पाओ, तब तक तुम पूर्ण विकसित मानसिक सत्ता, मनोमय पुरुष भी नहीं बन सकते।

१९. तुम अपने जीवन को सत्य की निरन्तर खोज बना लो और जीवन जीने-लायक बन जायेगा। वे सबसे अधिक सुखी हैं जो श्रद्धा पर

ऐसे दृढ़ हैं मानों चट्टान पर खड़े हों।

२०. हे मेरे स्वामी! तेरी सहायता और कृपा के रहते डर की क्या बात है!

२१. जिसमें धैर्य और दृढ़ता के साथ जीवन और उसकी कठिनाइयों का सामना करने का साहस नहीं है वह कभी साधना की और भी बड़ी आन्तरिक कठिनाइयों में से पार न हो सकेगा। इस योग में सबसे पहला पाठ है जीवन और उसकी परीक्षाओं का स्थिर मन, दृढ़ साहस के साथ सामना करना और भागवत शक्ति पर पूर्ण निर्भरता रखना।

२२. हमेशा सतत शुभेच्छा की स्थिति में रहना—इसे अपना नियम बना लो, किसी चीज़ से परेशान न होओ और किसी की परेशानी का कारण न बनो और, जहाँ तक हो सके, किसी को कष्ट न पहुँचाओ।

२३. ... इस योग में भगवान् के लिए ललकने, रोने, दुःख करने और तरसने की ज़रूरत नहीं है। प्रबल अभीप्सा तो होनी ही चाहिये, एक तीव्र तरस भी हो सकती है, उत्कट प्रेम और ऐक्य के लिए इच्छा भी हो सकती है, लेकिन दुःख और क्षोभ की कोई ज़रूरत नहीं है।

२४. मैंने यह कभी नहीं कहा कि भगवान् के लिए प्रेम में प्राण का कोई हिस्सा न होना चाहिये, बस इतना ही कहा है कि उसे अपने-आपको चैत्य सत्ता के प्रकाश में शुद्ध करना और उदात्त बनाना होगा। मनुष्यों के बीच अपने-आपसे प्रेम करने वाले प्रेम—साधारण प्राणिक प्रेम से मेरा यही आशय है—के परिणाम इतने क्षुद्र और अन्त में इतने विपरीत होते हैं कि मैं चाहता हूँ कि भगवान् की ओर गति में स्वयं प्राण में भी कुछ चीज़ अधिक शुद्ध, अधिक उदात्त और उच्च हो।
—श्रीअरविन्द

२५. भक्ति का स्वभाव है उसके प्रति आराधना, पूजा, आत्मदान जो तुमसे बड़ा है। प्रेम का स्वभाव है निकटता और ऐक्य के लिए भावना या खोज। आत्मदान दोनों का गुण है। योग में दोनों ज़रूरी हैं। हर एक को अपना पूरा बल तभी मिलता है जब उसे दूसरे का सहारा प्राप्त हो।

२६. यह सच नहीं है कि शारीरिक कार्य मानसिक कार्य से घटिया है। बुद्धि का घमण्ड ही ऐसा दावा करता है। भगवान् के लिए किये गये सभी काम समान रूप से भागवत होते हैं। अपने व्यक्तिगत विकास, ख्याति या मानसिक सन्तोष के लिए किये गये मानसिक कार्य की

अपेक्षा भगवान् के लिए किया गया शारीरिक कार्य अधिक दिव्य है।

२७. यह उपयोगिता का प्रश्न बिलकुल नहीं है, यद्यपि जब तुम लग कर करते हो तो तुम्हारा काम बहुत उपयोगी होता है। काम साधना का अंग है और साधना में उपयोगिता का प्रश्न नहीं उठता—यद्यपि बाहरी सामान्य जीवन में भी उपयोगिता ही एकमात्र माप नहीं है। प्रश्न है भगवान् के प्रति अभीप्सा का, क्या वह तुम्हारे जीवन का केन्द्रीय लक्ष्य है, तुम्हारी आन्तरिक आवश्यकता है या नहीं।

२८. जिस क्षण हम अपने बारे में सोचना शुरू कर देते हैं और अपने में ही व्यस्त होकर जीते हैं, उस क्षण से हमारा हर्ष अपनी तीव्रता खो बैठता है और जितना अधिक हम आत्म-केन्द्रित होते हैं, स्वयं हर्ष ही लुप्त हो जाता है।

२९. कितने कम हैं ऐसे लोग जो यह समझते हैं कि पृथ्वी के इतिहास के इस अद्‌भुत संक्रान्ति-काल में जीना कितनी अनन्त भागवत कृपा है!

३०. व्यक्ति केवल उन्हीं चीज़ों से उद्विग्न होता है जिन्हें वह अपने अन्दर लिये रहता है।

३१. हमारे युग में केवल सफलता तथा वह जिन भौतिक सन्तोषों को लाती है बस उसी का महत्त्व है। फिर भी असन्तुष्ट व्यक्तियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है जो जीवन के कारण को ढूँढ़ने के इच्छुक हैं और दूसरी ओर ऐसे सन्त भी हैं जो जानते हैं और पीड़ित मानवता की सहायता करने और ज्ञान के प्रकाश को फैलाने की कोशिश कर रहे हैं। जब दोनों मिलते हैं—वह जो जानता है और जो जानना चाहता है—तो संसार में एक नयी आशा का सञ्चार होता है और प्रबल अन्धकार में कुछ प्रकाश का प्रवेश होता है।

बस उसी को टेरती है मूक हो सारी प्रकृति
टीस पीड़ा की मिटे छूकर उसी के श्रीचरण
तोड़ दे वह आत्मा के मुहरबन्दी-आवरण
जड़-अँधेरे-अन्तरों में लौ उसी की जल उठे।।

'सावित्री' (भावानुवाद) श्रीअरविन्द

एक शिष्या के नाम पत्र

(एक फ़्रेंच महिला के नाम जो ६६ वर्ष की उम्र में १९३७ और १९४१ के बीच आश्रम में रही थीं।

यह शिष्या सितम्बर १९३७ के अन्त में फ़्रांस चली गयीं और १९३८ के मार्च में फिर आश्रम आ गयीं और १९४१ तक रहीं।)

तुम अपने-आपको व्यर्थ में कितनी यातना दे रही हो! मैं भली-भाँति जानती थी कि तुम बैंकर के यहाँ भोजन के लिए जाया करती हो। मुझे उसमें, तुम्हारी छोटी-मोटी संगीत-सभाओं या और ऐसी ही अन्य चीज़ों की तरह कोई ग़लती नहीं दिखायी दी। मैंने हमेशा यही सोचा है कि तुम जिससे चाहो मिल सकती हो और जहाँ चाहो जा सकती हो। मैंने इस बारे में तुम्हें केवल एक बार सलाह दी थी, वह भी छोटी-सी सलाह, उससे बढ़ कर कुछ नहीं। केवल एक बार बहुत ही विशिष्ट मामले की ओर संकेत किया था।

मैं जल्दी यह चिट्ठी इस आशा से भेज रही हूँ कि यह तुम्हारे लिए वह शान्ति और प्रशान्ति लेकर आयेगी जो मैं हमेशा तुम्हारे लिए चाहती हूँ।

मेरे आशीर्वाद अविच्छिन्न रूप से तुम्हारे साथ हैं।

३ मई १९३९

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

अगर तुम चीज़ों को देखने की मेरी **सच्ची** दृष्टि चाहती हो तो मुझे तुमसे कहना होगा कि भागवत कृपा पर श्रद्धा और भरोसे की एक **अच्छी** मात्रा दुनिया-भर की सभी गोलियों और इंजेक्शंस से ज़्यादा अच्छी है।

मेरे आशीर्वाद के साथ। मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

७ मई १९३९

मेरी प्यारी बेचारी 'क',

मुझे सचमुच खेद है कि मैं तुम्हें निराश कर रही हूँ, लेकिन तुम जिस मुलाक़ात की इच्छा कर रही हो वह निश्चय ही युद्ध की समाप्ति से पहले नहीं हो सकती।

और फिर, आन्तरिक विकास के लिए मैं शब्दों को ज़रूरी नहीं मानती। नीरवता में हमारी समस्त सहायता अपने सबसे अधिक सशक्त रूप में रहती है।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

६ सितम्बर १९३९

मेरी नन्हीं 'क',

यह असम्भव है कि तुम किसी के साथ बैठ कर ध्यान करो और *उसमें से निकलने वाले स्पन्दन तुम्हें प्रभावित न करें*, ठीक उसी तरह जैसे तुम किसी कमरे की हवा में साँस लिये बिना प्रवेश नहीं कर सकते।

जब किसी का वातावरण हानिकर तथा प्रभाव बुरा होता है (मैंने तुम्हें इसकी चेतावनी दी थी) तो तुम्हें इस बात की बहुत सावधानी बरतनी चाहिये कि उस वातावरण में ध्यान के समय अपने-आपको ग्रहणशीलता की अवस्था में न रखो!

यह ग़लती नहीं है, परन्तु यह अज्ञान की क्रिया है। और यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यह तुम्हें मेरी छोटी-सी 'क' होने से नहीं रोक सकती या मेरी भुजाओं को तुम्हें घेरने और तुम्हारी रक्षा करने से नहीं रोक सकती।

१९ सितम्बर १९३९

तुम अपनी नीरवता क्यों भंग करना चाहती हो? नीरवता सभी सच्ची आध्यात्मिक उपलब्धियों का द्वार है।

और मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। नीरवता में मेरी शक्ति के समीप चली आओ, यह तुम्हें कभी धोखा न देगी।

हमारे आशीर्वाद।

२३ दिसम्बर १९३९

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

जब ईर्ष्या का भूत तुम्हारे कान में कुछ फुसफुसाता है तो तुम्हें बहुत सावधान रहना चाहिये कि उसकी बात पर कान न दो।

जब युद्ध शुरू हुआ तो मैंने तुमसे कहा था कि जब तक यह समाप्त

न हो जाये मैं आश्रमवासियों से मुलाक़ात न करूँगी। मैंने जो कहा था वही कर रही हूँ। सभी नियमित मुलाक़ातें बन्द हैं। कभी-कदास, हमेशा नहीं, मैं किसी दर्शक से उसके जाने से पहले मिलती हूँ। इसके अतिरिक्त, इतने महीनों में दो-तीन ही अपवाद हुए हैं। *उनमें से एक मुलाक़ात तुम्हारे साथ*, तुम्हारे मामले में हुई थी। अगर किसी ने तुमसे इससे उलटी बात कही है तो उस पर विश्वास क्यों करती हो? तुम्हें तुरन्त इन छायाओं को अपने से बहुत दूर भगा देना चाहिये और हमेशा अटल विश्वास की शान्ति में निवास करना चाहिये।

मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। अगर तुम ध्यान से सुनो तो तुम अपने प्रश्नों के लिए मेरे उत्तर सुनोगी। जब तुम्हारे अन्दर सब कुछ नीरव और अचञ्चल हो जाता है तब तुम मूर्त रूप में मेरी उपस्थिति अनुभव कर सकोगी और उससे बढ़ कर वास्तविक या उससे बढ़ कर प्रभावकारी कोई सहायता नहीं होती।

हमेशा मेरे गहनतम प्रेम और हमारे आशीर्वाद के साथ।

४ मार्च १९४०

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

मैं बाईसवीं तारीख़ के लिए सहमत हूँ—शायद शाम के साढ़े पाँच बजे सीढ़ियों के ऊपर—लेकिन अत्यधिक अस्थिरता के इन दिनों में, इतने दिन पहले से कार्यक्रम बनाना कठिन है। हमें दिन-प्रतिदिन जीना चाहिये। हमारी समस्त चेतना एकमात्र आलोकमय क्षितिज—भागवत उपलब्धि—पर केन्द्रित होनी चाहिये।

हमारे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं, साथ में मेरा प्रेम भी।

५ जुलाई १९४०

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

शुष्कता सामान्यतः अपने बारे में बहुत अधिक चिन्तित रहने का लक्षण है (वह चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक) और परिणामस्वरूप चेतना की संकीर्णता का जो पर्याप्त रूप से भागवत शक्तियों के साथ सम्पर्क में नहीं रहती।

उपचार : भगवान् के प्रति पूर्णतर आत्मदान।

मेरे आशीर्वाद और मेरे समस्त प्रेम के साथ।

८ दिसम्बर १९४०

मेरी प्यारी नन्हीं 'क',

चिन्ता न करो; मेरा मतलब केवल यही था कि तुम अभी तक पूरी तरह सामाजिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो—लेकिन यह मुक्ति निश्चय ही आयेगी, जैसे-जैसे तुम्हारे अन्दर भगवान् के प्रति अभीप्सा की ज्वाला अधिकाधिक तीव्रता के साथ प्रज्वलित होगी।

मेरे आशीर्वाद और मेरे समस्त प्रेम के साथ।

१६ जनवरी १९४१

(समाप्त) **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १७, पृ. २८४-८७

कठिनाइयों में श्रीमाँ की सहायता

उचित मनोभाव है घबराना नहीं, शान्ति-स्थिर बने रहना और विश्वास बनाये रखना; पर साथ में यह भी आवश्यक है कि श्रीमाँ की सहायता ग्रहण की जाये और किसी भी कारण से उनकी शुभ-चिन्ता से पीछे न हटा जाये। हमें कभी असमर्थता, प्रत्युत्तर देने की अयोग्यता के विचारों में नहीं लगे रहना चाहिये, दोषों और असफलताओं पर अत्यधिक ध्यान नहीं देना चाहिये और इन सबके कारण मन को दुःखी और लज्जित नहीं होने देना चाहिये; क्योंकि ये विचार और बोध अन्त में कमज़ोर बनाने वाली चीज़ें बन जाते हैं। अगर कठिनाइयाँ हैं, ठोकरें लगती हैं या असफलताएँ आती हैं तो उन्हें शान्त-स्थिर रह कर देखना चाहिये और उन्हें दूर करने के लिए शान्ति के साथ, निरन्तर भागवत सहायता को पुकारना चाहिये, लेकिन कभी विचलित या दुःखी या निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। योग कोई सहज पथ नहीं है और प्रकृति का सर्वांगीण परिवर्तन एक दिन में नहीं किया जा सकता।

२७ मई १९३१

इस दुर्बलता को दूर फेंक दो। श्रीमाँ की सहायता उपस्थित है—अपने-आपको नीरव तथा निश्चल बनाये रखो और कठिनाइयों का सामना उस साहस के साथ करो जो एक साधक के अन्दर ईश्वर की खोज के दौरान होना चाहिये।
२२ नवम्बर १९३३

*

एक बार जब व्यक्ति योगमार्ग में प्रवेश कर जाता है तब उसे केवल एक ही चीज़ करनी होती है—उसे दृढ़ता के साथ यह निश्चय करना होता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, चाहे जो भी कठिनाइयाँ क्यों न उठ खड़ी हों, मैं अन्त तक अवश्य जाऊँगा। सच पूछा जाये तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्य के द्वारा योग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्ति के द्वारा आती है जो तुम्हारे ऊपर आसीन है—और समस्त उतार-चढ़ावों में से गुज़रते हुए, लगातार उस शक्ति को पुकारते रहने से ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूप से अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायता के लिए श्रीमाँ की ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज़ है जिसे सर्वदा करना चाहिये।
३ जनवरी १९३४ **श्रीअरविन्द**

प्रेम के बदले प्रेम

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तो।। ('धम्मपद' से)

यहाँ (संसार में) वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैर से ही शान्त होता है,
यही सनातन धर्म (= नियम) है।

यह 'धम्मपद' का एक अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है, उनमें से एक है जो बहुत

अधिक उद्धृत किये जाते हैं—मैं यह कहना कहीं अधिक पसन्द करती कि यह ऐसा श्लोक है जिसका दुनिया में सबसे अधिक अनुसरण किया जाता है, परन्तु दुर्भाग्यवश यह बात सच्ची नहीं होगी। क्योंकि लोग इस शिक्षा के विषय में बातें तो बहुत करते हैं पर इसका पालन नहीं करते।

फिर भी, इस समस्या का एक पहलू ऐसा है जिसकी चर्चा कम ही की जाती है, पर यदि तुम चाहते हो कि जगत् की चीज़ों में परिवर्तन आये तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह चीज़ ऐसी है जिसकी ओर लोग बहुत कम ध्यान देते हैं। मैं तुम लोगों को आश्चर्य में डाल दूँगी। वह यह है : यदि घृणा के प्रत्युत्तर में प्रेम दिया जाये ताकि संसार परिवर्तित हो सके तो क्या यह बात कहीं अधिक स्वाभाविक नहीं होगी कि प्रेम भागवत प्रेम को उत्तर दे?

यदि कोई मनुष्यों का जीवन, कर्म और हृदय देखे, जैसे कि वे हैं, तो उसे उस सारी घृणा, अवज्ञा, अथवा, कम-से-कम उदासीनता को देख कर उचित रूप में ही आश्चर्य होगा जो इस असीम भागवत प्रेम के बदले में लौटायी जाती है जिसे भागवत करुणा धरती पर उँडेलती है—उस भागवत प्रेम के बदले में जो संसार को भागवत आनन्द की ओर ले जाने के लिए यहाँ प्रत्येक क्षण कार्य कर रहा है और जिसे मानव हृदय में इतना कम प्रत्युत्तर मिलता है। परन्तु लोग दया दिखाते हैं केवल दुष्टों के प्रति, अधमों के प्रति, अवाञ्छनीयों के प्रति, असफल और असफलताओं के प्रति—वास्तव में इससे दुष्टता और असफलता को एक प्रकार का बढ़ावा मिलता है।

यदि कोई समस्या के इस पहलू पर कुछ अधिक विचार करे तो शायद उसे घृणा का उत्तर प्रेम से देने की आवश्यकता पर बल देने की ज़रूरत कम होगी, क्योंकि यदि मानव हृदय अपने अन्दर निरन्तर उँडेले जाने वाले भागवत प्रेम का प्रत्युत्तर सम्पूर्ण सच्चाई के साथ, समझने वाले और मूल्य आँकने वाले हृदय की स्वाभाविक कृतज्ञता के साथ देता तो जगत् में चीज़ें बड़ी तेज़ी से बदलने लगतीं।

२७ सितम्बर १९५७

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १९७-९८

ध्यान के प्रकार

इस तरह के ध्यान के परिणामस्वरूप तुम एक तरह की शान्ति, एक प्रकार की ज्योति, एक तरह का अन्तर्भास तथा अन्य अनेक प्रकार के लाभ पाओगे। तुम्हारे जीवन में जो चीज़ें घटेंगी उन्हें देख कर तुम्हें आश्चर्य होगा। लेकिन इस चेतना में तुम यह नहीं कह सकते कि आधे घण्टे के लिए तो मैं यह करूँगा और बाक़ी साढ़े तेईस घण्टे जो मरज़ी होगी करूँगा। तुम ध्यान के द्वारा जो कुछ पाओ उसे अपने सारे दिन में एकाग्रता के द्वारा अभिव्यक्त करते रहना होगा। माताजी ने कहा है कि तुम्हारा दैनिक कार्य-कलाप एक निहाई की तरह है जिस पर तुम्हें परखा जाता है कि क्या तुम ध्यान द्वारा जो प्राप्त करते हो उसे बनाये रखते हो और दूसरे दिन अगला क़दम रखते हो या हर रोज़ नीचे चले जाते हो।

सच्ची अभीप्सा यही है कि तुम यह चाहो कि भगवान् तुम्हारे अन्दर सक्रिय हों, लेकिन तुम्हें पूरी तरह भगावन् के प्रति समर्पित होना चाहिये। जब तुम यह मनोवृत्ति अपना लो तो तीन चीज़ें होती हैं—पहली स्थिति में तुम्हें कुछ लगता है, किसी उपस्थिति का अनुभव होता है जो तुम्हें मार्ग दिखाती है और सारे समय तुम्हारी सहायता करती रहती है। दूसरी स्थिति में तुम्हें लगता है कि तुम्हारे कर्म ज़्यादा प्रभावशाली होते जा रहे हैं, लेकिन 'कर्ता' होने का भाव बना रहता है कि 'मैं काम कर रहा हूँ,' 'मैं ध्यान कर रहा हूँ।' यह भाव बना रहता है कि 'मैं काम कर रहा हूँ,' वैसे मैं भागवत कृपा के द्वारा काम कर रहा हूँ, लेकिन 'मैं काम कर रहा हूँ।' यह "मैं" तो बना ही रहता है।

एक तीसरी स्थिति आती है जब पृथक् अहंकार का सारा भाव लुप्त हो जाता है। तुम भगवान् के साथ एक हो जाते हो और वे ही तुम्हारे द्वारा काम करते हैं और तुम्हारा यन्त्र के रूप में उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई पत्र आता है तो तुम उसे नहीं पढ़ते, भगवान् ही उसे तुम्हारे द्वारा पढ़ते हैं और सन्देश तुम तक पहुँचा देते हैं। तुम्हारी चेतना विभाजित हो जाती है—एक साक्षी चेतना होती है जो देखती है और दूसरी

जो कार्य करती है। तुमको पता लगता है कि जो कुछ होना होता है भगवान् ही उसे करवाते हैं। अगर वे तुम्हारे द्वारा कुछ कहलवाना चाहते हैं तो वे तुम्हारे द्वारा कहलवा देते हैं। तुम कहते हो, "हाँ, तुम ठीक हो जाओगे" और रोगी ठीक हो जाता है। लेकिन इसमें स्वयं भगवान् तुम्हारे द्वारा बोलते हैं। तुम्हारी चेतना केवल वस्तुओं को होते हुए देखती है। तुम्हें कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती। इस स्थिति में आकर अपने कर्ता होने का भाव बिलकुल चला जाता है।

यह भी अन्तिम स्थिति नहीं है; इससे आगे भी है और यह चौथी स्थिति आध्यात्मिक प्रयास में श्रीअरविन्द की अनोखी देन है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि तुम यह नहीं कह सकते कि मैं पहली तीन स्थितियों को छोड़ कर सीधा चौथी स्थिति तक जा पहुँचूँगा। छोटा रास्ता होता तो है पर इतना छोटा नहीं कि तुम बीच की सभी स्थितियों को लाँघ जाओ। तो चौथी स्थिति तब होती है जब भगवान् सचमुच तुम्हारे अन्दर, तुम्हारे शरीर में उतर आयें और उसका रूपान्तर कर दें। वह स्थिति अभी तक नहीं आयी है पर आयेगी ज़रूर। श्रीअरविन्द के मतानुसार **वह** भविष्य आकर रहेगा। वह कुछ तो नज़दीक आया ही है, हम कह सकते हैं, पाँच प्रतिशत आया है, लेकिन अभी वह दिन आना बाक़ी है जब मानव-शरीर प्रकाश का शरीर बन जाये। और फिर इसके लिए भी ध्यान एक बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है ताकि भागवत चेतना मानव शरीर में बस जाये। श्रीअरविन्द के अनुसार भागवत चेतना ने अपने-आपको ठोस भौतिक शरीर में जमा लिया है वैसे ही जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन, वाष्प, जल और बरफ़ बन जाते हैं और इससे उलटी क्रिया द्वारा वे फिर से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन बन सकते हैं। उसी तरह कई अभ्यासों के द्वारा तुम शारीरिक चेतना में भी दिव्य चेतना को जगा सकते हो जो आगे चल कर भौतिक रूपान्तर बन जाये। शारीरिक कार्य का उद्देश्य है, शरीर को सचेतन बनाना, शरीर के प्रत्येक कोषाणु को सचेतन बनाना। मानसिक कार्य का उद्देश्य है, मन को सचेतन बनाना, प्रकाशमय बनाना और प्राणिक कार्य का उद्देश्य है, प्राण को प्रकाशमय और सचेतन बनाना।

(क्रमशः)

—नवजातजी

तुलसी का घरुआ

किसी अच्छी-से-अच्छी चीज़ की भी बेहिसाब भरमार हो जाये तो वह अपनी अच्छाई खो बैठती है। आपको मिठाई चाहे कितनी भी पसन्द क्यों न हो, उसकी भी अति हो जाये तो खटाई की ज़रूरत पड़ जाती है।

जब से होश सँभाला था तभी से तुलसी की महिमा सुनती आयी थी। तुलसी बोने का, तुलसी के ब्याह का समारोह भी देखा था और वृन्दा की कहानी भी न जाने कितनी बार सुनी थी। इन कारणों से स्वभावतः तुलसी के लिए मान था, श्रद्धा-भक्ति थी। लेकिन जैसा कि मैंने कहा, अति हर चीज़ की बुरी।

मैं, मैं ही नहीं, हम सब नानी के यहाँ गये हुए थे। छुट्टियों के दिन थे। खेलते-खाते, मौज करते दिन बीतते थे। कभी हँसी के फ़व्वारे छूटते तो कभी ज़रा-ज़रा-सी बात पर बूँदा-बाँदी शुरू हो जाती। मतलब यह कि हर दिन होली और हर रात दीवाली होती थी। एक दिन कमबख़्त माली कहीं से तुलसी का पौधा ले आया। हम सब अपने पुराने परिचित मित्र को देख खिल उठे। लेकिन हमें क्या मालूम था कि यह मित्र ही हमारे लिए जानलेवा बन कर आया था।

नानी के घर के बीचोबीच घरुआ बनवाया गया और बिना किसी के कुछ कहे-सुने हमारी भाग-दौड़ पर, हमारी हिरन-कुलाँचों पर पाबन्दी लग गयी। अब सारे समय सतर्क रहना पड़ता था कि कहीं घरुए को पाँव न छू जाये। यहाँ तक तो फिर भी मान लिया। अब नानीजी का आदेश हुआ तुलसी मैया "साच्छात भगवान्" हैं, इनके सामने कोई बन्दरपना, कोई गुलगपाड़ा न होना चाहिये। घर में कुछ बड़े थे, नानीजी उनसे कुछ कहते सकुचाती थीं। कुछ छोटे थे, उन पर दया करती थीं। बस, डाँट-फटकार के लिए, आदेश-निर्देश के लिए रह गयी बेचारी मैं। हर रोज़ एक नया अध्यादेश निकल जाता। "तुलसी मैया के आस-पास ज़ोर से मत बोलो, इनके सामने मत हँसो। ख़बरदार, यहाँ किसी ऐसे-वैसे को मत आने देना।" हे भगवान्, यह तुलसी न हुई हमारे लिए पुलिस का दरोगा हो गया।

बस, अब हमारा हँसना-खेलना बन्द, चुहलें ताक में रख दी गयीं और हम सारे समय मुहर्रमी शकलें बना कर रहने लगे। मुझे ननिहाल बहुत पसन्द

थी पर सच कहूँ अब मैं दिन गिनने लगी कि यहाँ से कब निकल सकूँ।

एक दिन मेरी आँखें खुल गयीं। मुझे भान हुआ कि कोई भी मुश्किल आये महावीर बब्बा को बुलाने से काम बन जाता है। बस, लगी हनुमान चालीसा का पाठ करने। मानना पड़ेगा हनुमानजी सचमुच प्रत्यक्ष देवता हैं। मेरा पाठ ख़तम होते-न-होते नानीजी की कोठरी में से बहुत ज़ोर की चीख सुनायी दी। सारा घर उस ओर दौड़ पड़ा। नानीजी का चेहरा तमतमा रहा था और साथ ही सावन-भादों की झड़ी लगी थी। मुझे देखते ही उन्होंने आँगन की ओर इशारा किया। देखती क्या हूँ, पवनसुत के दो-चार वंशज बैठे तुलसी के पत्तों का भोग लगा रहे हैं। नानीजी से यह देखा न गया और वे बेहोश हो गयीं। होश में आयीं तो मम्मी उनसे कह रही थीं, "नहीं, अम्मा, यह तो ख़ुशी की बात है। हनुमानजी हमारा घर पवित्र कर गये। बेबी ने हनुमान चालीसा का पाठ किया था। बच्ची का सरल और पवित्र हृदय है, भगवान् ने उसकी बात सुन ली और हमलोगों को दर्शन देने आ गये। हमारे यहाँ तुलसी से पवित्र चीज़ कौन-सी है। उन्होंने उसी का आरोग किया। यह तो तुम्हारे ऊपर कृपा की है उन्होंने। तुम्हें ख़ुश होना चाहिये।" और नानी सचमुच ख़ुश हो गयीं।

और दूसरे दिन से हमें भी किलकारियाँ और ठहाके मारने की छूट हो गयी। अब कौन सोचता है ननिहाल छोड़ने की बात। धत्!

मार्च २००३ से —स्व. रवीन्द्रजी

अपने पड़ोसी के अन्दर विद्यमान भगवान् के लिए, स्वयं अपने अन्दर विद्यमान भगवान् के लिए, अपने देश में तथा अपने शत्रु के देश में विद्यमान भगवान् के लिए, मनुष्यजाति में विद्यमान भगवान् के लिए, वृक्ष, पत्थर और पशु में विद्यमान भगवान् के लिए, जगत् में और जगत् से बाहर विद्यमान भगवान् के लिए जीवन धारण करो और तब जानो कि तुम स्वतन्त्रता के सीधे पथ पर हो।

श्रीअरविन्द

नहीं जान पाया...

नहीं जान पाया
अपने मन को
मन क्या है
उसका स्वरूप क्या है
उसकी संरचना कैसी है

नहीं जानता
चित्त क्या है
उसका स्वरूप क्या है
उसकी संरचना कैसी है

श्वास लेता हूँ
श्वास के सम्बन्ध में जानकारी है
परन्तु, नहीं जानता
प्राण क्या है
प्राण का स्वरूप क्या है
संरचना कैसी है
सच तो यह है
कि नहीं जान पाया अब तक
मैं कौन हूँ

— श्री विश्वनाथ

विशालता

उझक रही हैं कहानियों की डलिया से तीन छोटी-छोटी मोती जैसी सच्ची घटनाएँ—

चारों तरफ़ अँधेरे का साम्राज्य फैलने लगा। बन्दूक कन्धे पर लटकाये राजबहादुर घड़ी-दो-घड़ी सुस्ताने के बाद, कुमार को उठा कर फिर से घनी झाड़ियों के बीच बचता-बचाता सामने की ओर बढ़ चला। दुश्मनों से लड़ते-लड़ते उसकी टुकड़ी के बाक़ी सभी साथी वीरगति को प्राप्त हो चुके थे। घायल कुमार को दिन-भर अपनी पीठ पर लादे-लादे राजबहादुर काफ़ी दूर निकल आया था। इस बीच कुमार को होश आ गया था। उसने राजबहादुर को समझाते हुए कहा—"राज! तुम मुझे छोड़ कर चले जाओ, मेरे लिए अपनी जान ख़तरे में न डालो, दुश्मन कभी भी आ सकता है।"

लेकिन राजबहादुर ने उसकी एक न सुनी। कहा, "कुमार, तुम चिन्ता न करो, अभी मेरे पैरों में ताक़त है और हाथों में शक्ति। बाक़ी साथियों के किसी काम न आ पाया; उन सबने दम तोड़ दिया, लेकिन मैं अपनी जान की ख़ातिर तुम्हें यहाँ जंगल में प्राण त्याग देने के लिए कभी न छोड़ जाऊँगा, तुम बस प्रार्थना में लगे रहो। देखना, हमारी कोई-न-कोई पलटन हमें ज़रूर ढूँढ़ निकालेगी।"

कुमार निरुत्तर हो गया। राजबहादुर ने उसे कन्धे पर लादे रखा। चारों ओर घोर रात का अन्धकार-भरा सन्नाटा बरस रहा था, साथ-साथ हलका पाला भी पड़ रहा था। राजबहादुर के दोनों कन्धे सूज गये थे, आँखों में मानों ख़ून जम-सा रहा था, होठ ठण्ड के मारे फट गये थे और पैरों में तो जगह-जगह बिवाइयाँ फट कर ख़ून बहा रही थीं यह उसे अपने जूतों के अन्दर की चिपचिपाहट से अच्छी तरह पता चल गया था। एक-एक क़दम मन-भर का हो रहा था लेकिन राजबहादुर कर्तव्य-कर्म की तरह साथी को कन्धों से चिपकाये रहा।

तभी सामने दीखा नदी का किनारा। कुमार मिन्नत-भरे स्वर में बोल उठा—"राज! मुझे कन्धों पर लादे-लादे इस सर्दी में नदी कैसे पार करोगे मेरे दोस्त! मुझे यहीं भगवान् के हवाले छोड़ कर तुम किसी तरह अपनी जान बचा कर भाग निकलो। शत्रु का कोई ठिकाना नहीं। कब कहाँ से

आ टपके।"

"नहीं कुमार, नहीं", राजबहादुर ने उसे धरती पर आहिस्ता से लिटाते हुए बड़ी ममता-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कहा—"हर्गिज़ नहीं कुमार! अभी मेरी शादी नहीं हुई है और तुम शादीशुदा हो और मैंने यह भी सुना है कि तुम शीघ्र ही पिता बनने वाले हो। यदि मैं मर भी जाऊँ तो राष्ट्र सिर्फ़ एक सैनिक को खोयेगा। पर तुम? तुम तो एक पिता, एक पति और एक सैनिक—सब एक साथ हो।"

कुमार चुप हो गया। अपार स्नेह के साथ एकटक अपने परित्राता को देखता रह गया। उसके हृदय में अपनी पत्नी, गाँव और कावेरी-तट की सुखद याद ताज़ा हो आयी, तीव्र पीड़ा में भी मुख पर मुस्कानें खिल उठीं। और तभी जंगल में किसी के दौड़ने की आहट हुई और साथ ही दो गोलियाँ एक साथ चलीं। कुमार की चेतना में बस इतना ही दर्ज था।

और जब उसे होश आया तो उसने अपने-आपको मुक़ाम के फ़ौजी अस्पताल में पाया। उसके सारे शरीर पर पट्टियाँ बँधी थीं। उसके पास ही उसका दोस्त आरमुगम् खड़ा था। कुमार का पहला प्रश्न था—"राजबहादुर कहाँ है?"

आरमुगम् ने बताया—"कुमार! जब हमारी टुकड़ी नदी पार करके जंगल में पहुँची तो हमने राजबहादुर को तुम्हारे शरीर पर गिरा पाया। उसने प्राण त्याग दिये थे। उससे दस फ़ुट के फ़ासले पर एक चीनी की भी लाश पड़ी थी। दोनों ने एक ही समय एक-दूसरे पर गोली चलायी होगी।" कुमार की आँखों का बाँध टूट गया। उसका सारा अस्तित्व मानों उसमें डूब गया, फिर आरमुगम् ने बताया—"कुमार, तुम्हारे घर से ख़बर आयी है। तुम पिता बन गये हो। तुम्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है।"

कुमार की सिसकियाँ हिचकियों में बदल गयीं। आरमुगम् घबरा गया, उसे सँभालने के लिए झुका, कुमार ने हाथ के इशारे से उसे रोक दिया मानों मन-ही-मन कह रहा हो—"ये आँसू नहीं, मैं अपने उस देवता-मित्र पर अभिषेक-जल चढ़ा रहा हूँ जिसने मुझे प्राण-दान देकर हँसते-हँसते अपने प्राण त्याग दिये।"

थोड़ी देर बाद कुमार ने आरमुगम् से अपने घर चिट्ठी लिखवायी। जब कुमार ने यह लिखने के लिए कहा कि मेरे पुत्र का नाम राजबहादुर

रखियेगा तो आरमुगम् का हाथ अनायास रुक गया। चौंक कर बोला—"लेकिन कुमार, राजबहादुर तो तमिल नाम-सा नहीं लगता न?"

कुमार वेदना-भरी हँसी हँसते हुए धीमे से बोलो—"दोस्त! तमिलनाडु में राम, कृष्ण, कैलासम् के नाम सदियों से प्रचलित हैं। जानते हो क्यों? क्योंकि हमारे देश की सहस्रों विविधताओं के मूल में संस्कृति की एक ही बुनियादी धारा बहती आयी है। यह हिमालय मेरा है, तुम्हारा है, इसका है, उसका है—हम सबका है। इसलिए इसकी रक्षा के लिए कोने-कोने से आकर हम एकजुट हुए हैं। मैं, तुम, वह—सब एक ही माँ के पुत्र हैं—भारत माता के। यह जन्म-जन्मान्तरों का अटूट बन्धन है।"

आरमुगम् ने अपने दोस्त को बहुत स्नेहभरी दृष्टि से देखा, उसकी आँखें कह रही थीं—"सच कुमार, आज तुमने जीवन के एक सुनहरे सत्य की याद ताज़ा कर दी। धन्यवाद!"

*

अंग्रेज़-कवि जॉर्ज हर्बर्ट किसी संगीत-सभा में जा रहे थे। देर हो जाने के कारण उन्होंने अपने चालक से गाड़ी रफ़्तार से चलाने के लिए कहा। अचानक उनकी नज़र रास्ते के किनारे हुई दुर्घटना पर टिक गयी। किसी किसान का भार से लदा घोड़ा रपट कर गिर गया था और वह किसी तरह घोड़े से बोझा हटाने की कोशिश में लगा था। कवि ने देखा तो तुरन्त गाड़ी रुकवा दी। झटपट उतरे और बेझिझक किसान की मदद में जुट गये। दोनों ने भार हटाया फिर गिरे हुए, भयभीत घोड़े को सहारा देकर खड़ा किया। इस सबमें कवि के सफ़ेद कपड़े धूलि-धूसरित हो गये। किसान ने झुक-झुक कर उन्हें धन्यवाद दिया, कवि भी हाथ जोड़ कर अपनी गाड़ी में आ बैठे।

यह सब करने के बाद जब वे कार्यक्रम के बीच संगीत-सभा में पहुँचे तो सभी नज़रें उनकी ओर घूम गयीं, उनके कपड़ों पर टिक गयीं। उनका यह हुलिया देख प्रायः सबकी भौंहें तन गयीं, कुछ चिन्तित भी हो उठे कि क्या कवि दुर्घटनाग्रस्त हो गये?

मध्यान्तर के समय हर्बर्ट के चारों ओर हितैषियों का झुण्ड का झुण्ड लग गया। "क्या हुआ, क्या हुआ?" प्रश्न की झड़ी लग गयी। "मुझे कुछ नहीं हुआ, किसी किसान की मदद करने में मेरे कपड़े धूलि-धूसरित हो गये"

कह कर जब कवि ने सारा क़िस्सा सुनाया तो तथाकथित सभ्य समाज के उन सभी शिष्ट-शालीन चेहरों पर घृणा के बादल छा गये। किसी सज्जन की ऊँची आवाज़ फूट पड़ी—"आपसे ऐसी उम्मीद न थी। क्या इस तरह का नीचा काम आपको शोभा देता है?"

कवि हर्बर्ट की गर्दन तन गयी। आँखों से हर्ष छिटकने लगा, बड़े ही तृप्त भाव से वे बोल उठे—"बन्धुओ! जो कुछ मैंने किया वह आधी रात के समय भी मुझे संगीत का अपार आनन्द दिलायेगा। अगर मैं यह काम न करता तो मेरी अन्तरात्मा सारे समय इस संगीत-सभा में मुझे धिक्कारती हुई मेरे अन्दर शोर मचाती रहती।"

*

संगीत के स्रष्टा ब्रैहम एक बार हंगेरी के शहरों में घूम-घूम कर संगीत प्रस्तुत कर रहे थे। एक दिन कार्यक्रम शुरू होने के पहले मैनेजर ने बड़े ही दुःख के साथ उनसे कहा—"महोदय, कार्यक्रम सुनने के लिए सिर्फ़ एक आदमी थियेटर में बैठा है। ज़्यादा अच्छा हो कि उसे टिकट के पैसे वापस करके आज का कार्यक्रम स्थगित कर दिया जाये।"

"नहीं, नहीं, कभी नहीं।" ब्रैहम तुरन्त बोल उठे। "यह तो उन सज्जन का अपमान करना होगा। वे संगीत सुनने आये हैं, उन्हें ऐसे ही वापस नहीं लौटाया जा सकता।"

ठीक समय पर परदा उठा। ब्रैहम ने ऐसी लगन और प्रसन्नता के साथ संगीत बजाया मानों सारा थियेटर दर्शकों से खचाखच भरा हो!

'पुरोधा', मार्च २००५ से —वन्दना

दूसरों के लिए किये गये कार्य का मुख्य फल है—आत्मशुद्धि। दूसरों के प्रति निरन्तर शुभ करते रहने से हम स्वयं को भूलने का प्रयत्न करते रहते हैं। और यह आत्मविस्मृति ही बहुत बड़ी शिक्षा है, जो हमें जीवन में सीखनी है।

हमारी मानसिक स्थिति के अनुसार ही हमें यह संसार भला या बुरा प्रतीत होता है। स्वयं यह न तो भला है, न बुरा।

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

आन्तरिक परिपूर्णता

Date of Publication: **1st July 2020**
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by **The Vatika Group** vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2019-20

ICSE Curriculum

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363